



साहित्य शिक्षा और संस्कृति

प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी के अब तक विभिन्न अवसरो पर शिक्षा, संस्कृति और साहित्य सम्बन्धी दिये गये भाषणों का सुसम्पादित संग्रह है। पुस्तक तीन भागो में विभाजित है।

साहित्य खण्ड में साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि, हिन्दी-उर्दू की एकता, हिन्दी का व्यापक स्वरूप तथा साहित्य के विविध पक्षो पर गहराई तथा व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है।

शिक्षा और संस्कृति खण्ड में शिक्षा की प्रणालियो पर विचार है और प्राचीन भारत में संस्कृति को वर्तमान काल मे कैसे जीवित रख सकते है। परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान कैसे हो सकता है आदि विषयों पर गम्भीर विचार प्रकट किये गये है।

पुस्तक में संग्रहीत भाषणो में बहुमुखी ज्ञान का परिचय मिलने के साथ ही अध्ययन की सामग्री भी मिलती है। पुस्तक पठनीय, मननीय और संग्राह्य है।

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य ५)

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

दो शब्द

समय-समय पर दिये गए मेरे कुछ भाषणों का यह संग्रह मित्रों तथा सहकर्मियों के अनुरोध से प्रकाशित किया जा रहा है। ये भाषण पिछले २८-२९ वर्षों में विभिन्न अवसरों तथा स्थानों पर दिये गए थे। जो रूप इनका उस समय था ठीक उसी रूप में बिना किसी हेर-फेर के ये प्रकाशित किये जा रहे हैं। इसलिए इनमें एक दूसरे के साथ कोई स्वाभाविक-संबन्ध अथवा किसी प्रकार की एकसूत्रता कदाचित् देखने में न आये, पर मेरे विचारों में कोई विशेष महत्त्व का परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिए शायद विरोधाभास भी कहीं देखने में नहीं आयगा। पर ऐसी स्थिति में पुनरुक्तियों का होना स्वाभाविक है।--सम्पादक ने लेखों को 'भाषा और साहित्य', 'शिक्षा' तथा 'संस्कृति' शीर्षक देकर तीन भागों में विभक्त किया है। ये तीनों विषय एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं और इस विभाजन के बाद भी उनका एक दूसरे के साथ मेल अथवा सामंजस्य है। ये तीनों विषय ऐसे हैं जिनके संबन्ध में देश में आज भी विचार-विमर्श खूब हो रहा है और इस विचार-विमर्श में यदि एक सेवक के विचार कुछ काम के साबित हों तो मैं अपना बड़ा सौभाग्य मानूँगा।

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति ये तीनों व्यापक शब्द और विषय हैं। जाति, धर्म और देश इनमें निहित है। उन्नत देश और उनका गौरव इन्हीं पर निर्भर करते हैं। साहित्य सभ्यता का द्योतक है और राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम। इन्हीं से धार्मिक तथा सामाजिक आधिपत्य जमता और उखड़ता है। साहित्य की ओट में काल-विशेष की विशेषता छिपी रहती है। समय-समय पर साहित्यकार उसे प्रकट करते हैं—उससे समाज पर सामयिक प्रकाश पड़ता है और इस तरह उसका अन्धकार दूर होता है। मेरे कुछ भाषण साहित्यकारों की जमात में, उनकी मंडलियों में और उन मंडपों के बीच दिये गए हैं जहाँ ज़माने के अनुसार साहित्य की खोज और उसकी रूपरेखा तथा उस समय के साहित्य, राजनीति, धर्म और समाज के संबंध पर प्रकाश डाला गया था।

साहित्य तो ज्ञान-राशि है, पर वह आपको यहाँ नहीं मिलेगा और न आपको इसमें वह रस ही मिल सकता है जो साहित्य के अध्ययन से प्रायः मिलता है। पर इसमें एक बात आपको मिलेगी—राजनीतिक प्रभुत्व के कारण, राज्याश्रय के बल पर एक भाषा दूसरी भाषा पर किस प्रकार आधिपत्य जमा लेती है—इसकी खोज और इसका निराकरण प्रस्तुत संग्रह में अवश्य मिलेगा। असहयोग-आन्दोलन के बाद महात्मा जी की प्रेरणा से जब हम राष्ट्रीय भावना को लेकर

सार्वजनिक काम के लिए निकले तो ये भाषण देने का मौका मिला और आप पढ़कर ही समझ सकेंगे कि इनमें कौन सी विचार-धारा काम करती है।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश पाने के पूर्व से ही शिक्षा-शास्त्र में मेरी काफी रुचि रही है और मैं इन सवालों पर बड़े जोर से विचार करता आया हूं। जब मैं पहले-पहल गांधी जी के सम्पर्क में आया और चम्पारन के निरीह देहातियों, भोले-भाले किसानों तथा अशिक्षित मजदूरों के बीच में मुझे काम करना पड़ा तब मुझे इसकी जरूरत और इसकी महत्ता का पता चला। इस संबन्ध में भी मुझे महात्मा जी से रोशनी मिली।

भारत में १८५८ के बाद बड़े-बड़े शहरों में उस समय के शासकों के द्वारा विश्वविद्यालय स्थापित होने लगे। वे विश्वविद्यालय किस उद्देश्य से स्थापित किये गए थे, मैं कई बार कई जगहों में और कई संस्थाओं में कह चुका हूँ। इस संग्रह में आपको मेरे वे विचार पढ़ने को मिलेंगे। उन शिक्षा-संस्थाओं से हमारे चरित्र पर, मन पर और समाज पर क्या असर पड़ा, उसको भी मैंने साफ-साफ शब्दों में प्रकट किया है।

भारतीय संस्कृति एक प्रकार से निराली है। इस देश ने विचार पर कभी रोक नहीं लगाई और यद्यपि सामाजिक जीवन में बहुत प्रकार की—कुछ भली और बहुत सी बुरी—कुरीतियाँ प्रचलित हो गई पर मानसिक स्वतंत्रता बराबर अबाध रही। इसलिए जितने लोगों से, धर्मों से और विचार-शैलियों और कलाओं से हमारा सम्पर्क हुआ, प्रायः उन सबसे हमने बहुत-कुछ लिया और इसलिए आज हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते है कि हमारी आधुनिक संस्कृति पर अनेकानेक प्रकार के प्रमुख वादों का प्रभाव है। देश-काल के फेर से बहुत बातों में विभिन्नता भी दीखती है। पर यह सब होते हुए भी सारे भारत में केवल एकसूत्रता ही नहीं है बल्कि उन विभिन्नताओं के नीचे और भीतर एक स्रोत है जो उन सबका उद्गम और पोषक बराबर रहा है और आज भी है।

आचार्य शिवपूजनसहाय ने बहुत परिश्रम, प्रेम और उत्साह के साथ इन लेखों को देख लिया है और प्रेस के योग्य बना दिया है। इधर संकलन एवं सम्पादन का सम्पूर्ण भार डॉ० नगेन्द्र ने अपने ऊपर लेकर इस संग्रह को प्रस्तुत रूप और आकार दिया है।

ये दोनों सज्जन एतदर्थ मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

(साहित्य)

द्वितीय खण्ड

(शिक्षा)

तृतीय खण्ड

(संस्कृति)

प्रथम खण्ड

भाषा और साहित्य

१

साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि[1]

आपने मुझे ऐसे स्थान पर बिठा दिया है, जहाँ बैठने में मुझे बहुत संकोच होता है। मैं समझता हूँ कि मुझे इस आसन के ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं साहित्य का पण्डित नहीं हूँ, मैंने साहित्य की कोई सेवा भी नहीं की है। मैं यह भी नहीं कह सकता, कि मैं साहित्य में विशेष रुचि रखता हूँ। यदि कुछ रुचि थी भी तो वह राजनीति की भँवर में पड़कर ला-पता हो गई है। तो फिर मैं यहाँ क्यों हूँ? इसके लिए मैं आपको दोषी ठहराऊँ या स्वयं अपने को? यदि आपने मुझे सभापति निर्वाचित करने में भूल की, तो क्या मैंने उस पद को स्वीकार करके उससे भी अधिक भूल नहीं की? आप मेरी अयोग्यता कदाचित् न भी जानते हों, पर मैं तो जानता था। आपकी भूल मार्जनीय हो सकती है; पर मेरी कदापि नहीं। तथापि मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि मुझे हिन्दी से प्रेम है, हिन्दी-साहित्य से प्रेम है और वह प्रेम कृत्रिम नहीं है, क्योंकि मैंने इनसे परिचय कभी नहीं किया; पर यह प्रेम स्वाभाविक है और मैं समझता हूँ कि शायद इसी प्रेम के कारण आपने मुझे इस उच्चासन पर बिठाया है। मेरे भाषण में आप साहित्यिक आनन्द खोजने पर भी नहीं पायेंगे और न उसमें आपको विद्वत्ता ही मिलेगी। पर जिस रंग में आज सारा भारत रँगा हुआ है—जिस राष्ट्रीयता की मधुर वीणा से आज समस्त देश गूँज रहा है—उसी रंग का आभास यदि मैं आपको आज यहाँ करा सकूँ—उसी के एक तार की झंकार-मात्र सुना सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँगा।

अस्तु। समस्त संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों और जातियों के इतिहासों को देखने से मालूम हो जाता है कि राष्ट्रीयता का भाषा और साहित्य के साथ बहुत ही घनिष्ठ और गहरा सम्बन्ध है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है; क्योंकि राष्ट्रीयता और जातीयता के अंगों में सबसे अधिक आवश्यक अंग एकता है, और वह एकता किसी विषय-विशेष में नहीं; वह एकता, जितनी व्यापक होगी, उतनी ही राष्ट्रीयता में स्थिरता होगी और वह शक्तिशाली होगी। भावों की एकता अन्य सब प्रकार की एकताओं का मूल है और यह भावों की एकता तभी हो सकती है, जब वे विभिन्न व्यक्ति, जिनके द्वारा राष्ट्रीयता का निर्माण होता है, अपने भावों को एक दूसरे पर

[1] भाषण : अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, (विशेष) अधिवेशन, कोकोनाडा, सन् १९२३

व्यक्त कर सके। इस महान् कार्य के लिए एक भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। साहित्य क्या है ? साहित्य मानव जाति के उच्च-से-उच्च और सुन्दर-से-सुन्दर विचारों तथा भावों का वह गुच्छ है जिसकी बाहरी सुन्दरता और भीतरी सुगन्धि—दोनों ही मन को मोह लेते है। कोई जाति तब तक बड़ी नहीं हो सकती, जब तक कि उसके भाव और विचार उन्नत न हों। जब भाव और विचार उन्नत होंगे, तब उनका विकास उस जाति के साहित्य के रूप में ही हो सकता है; इसलिए जाति या राष्ट्र के उत्थान के साथ-साथ उस जाति या राष्ट्र के साहित्य की भी उन्नति और उत्थान होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्य की अवनति उस जाति के पतन का अटल और अटूट प्रमाण है।

भारत के ही इतिहास को लीजिए। महाभारत, रामायण और उपनिषद् अवश्य ऐसे समय में लिखे गए थे, जब यह देश बहुत उन्नत था। यह कल्पना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है कि ऐसे ग्रन्थ-रत्न किसी असभ्य बर्बर जाति के आचार्यों द्वारा लिखे गए हों। जब बौद्धों का राज्य भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया और उनका प्रभुत्व तथा गौरव भारतवर्ष के बाहर भी पहुँच गया, तो पाली भाषा और पाली-साहित्य की उन्नति भी उस साम्राज्य की उन्नति के साथ-ही-साथ बढ़ती गई। बौद्ध समय के प्रसिद्ध अँगरेज़ी इतिहास-वेत्ता डॉक्टर *रीज डेविड* ने लिखा है :

'राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ भारतवर्ष में भाषा के प्रभुत्व का केन्द्र भी बदलता गया है। पहले वह केन्द्र पंजाब में, उसके बाद कोशल में और उसके बाद मगध में हुआ और अन्त में जब संस्कृत समस्त भारतवर्ष की एक भाषा हो गई, तब पश्चिमी भारत में सबसे प्रसिद्ध प्रान्तीय भाषा पाई जाती थी"[1] और इसी बौद्ध-काल के सम्बन्ध में उनकी राय है कि "वह युग भारतीय साहित्य का सुवर्ण-युग था।" "बौद्ध धर्म और बौद्ध साम्राज्य के ह्रास के उपरान्त जब वैदिक धर्म और वैदिक जाति का फिर उत्थान हुआ तब उस उत्थान के साथ-ही-साथ संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान देखा जाता है।"[2]

डॉक्टर भण्डारकर, जो बड़े प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता हो गए है, लिखते है : "बौद्ध धर्म के कमजोर पड़ते ही ब्राह्मणों का जोर बढ़ने लगा और उस समय तक पाली भाषा के द्वारा जो कुछ हो रहा था, वह अब संस्कृत द्वारा किया जाने लगा। संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं के इतिहास तथा साहित्य के देखने से ही धर्म और राजनीति की क्रान्तियों का पता चलता है। जब भारतवर्ष में द्वितीय बार हिन्दू-धर्म की स्थापना

[1] Rhys David's Budhist India, page 155.

[2] *Ibid*, page 187.

हो गई और गुप्त-वंश के राजाओं का अधिकार या प्रभुत्व स्थापित हो गया, तब फिर संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और उसी समय कालिदास और बाणभट्ट-जैसे कवि-पुङ्गवों का आविर्भाव हुआ।" उस समय के सम्बन्ध में मिस्टर विन्सेण्ट स्मिथ लिखते हैं :

"गुप्त राजाओं का समय, जो मोटामोटी ३०० से ६५० ख्रष्टाब्द तक कहा जा सकता है, और जिससे विशेषकर चौथी तथा पाँचवी शताब्दियों को समझना चाहिए, कितने ही क्षेत्रों में विशेष मानसिक विकास का समय था। ऐसा समय था, जिसकी तुलना अंग्रेजी इतिहास में एलिजाबेथ और स्टुअर्ट राजाओं के समय से करना, अनुचित न होगा। भारतवर्ष में कालिदास के चमत्कार के सामने अन्य छोटे-छोटे कवि ठीक उसी तरह छिप जाते थे जैसे इंगलैड में शेक्सपियर के मुकाबले में दूसरे लेखक। पर, जैसे एलिजाबेथ के समय का साहित्य यदि शेक्सपियर न होता तो भी बहुत उच्चकोटि का होता, वैसे ही भारतवर्ष में यदि कालिदास के ग्रन्थ न भी बचे रहते तो भी दूसरों के रचे हुए ग्रन्थों की संख्या साहित्यिक दृष्टि से उस समय को अपूर्व उत्पादक-शक्ति रखने वाला प्रमाणित करती। 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' का भी यही समय बताया जाता है।"

हर्षवर्द्धन का राज्य एक ओर तो हिमालय से लेकर नर्मदा, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र तक तथा दूसरी ओर आसाम तक विस्तृत था। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने हर्षवर्द्धन के राज्य-प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है और उसे धर्म पर स्थिर बताया है। हर्षवर्द्धन आदि गुप्तवंशीय राजाओं ने केवल उत्तरीय भारत ही नहीं; बल्कि भारत के दक्षिणी हिस्से तक में भी अपना राज्य फैलाया था। हर्षवर्द्धन स्वयं कवि थे और उनके लिखे हुए व्याकरण और नाटक आज भी पाए जाते हैं। उन्हीं के दरबार में गद्य-काव्याकाश को 'कादम्बरी'-रूपी कादम्बिनीमाला से सुशोभित कर सहृदय-मयूरों के प्राण को नित्य-प्रति नचाने वाले बाण कवि रहते थे। इसी प्रकार यदि हिन्दी-साहित्य का भी इतिहास देखा जाय तो मालूम होगा कि चन्द बरदाई की काव्य-रचना हिन्दुओं के सिरताज तथा हिन्दू-धर्म के प्राण पृथ्वीराज के समय और भूषण कवि का सम्मान शिवाजी के दरबार में ही हो सकता था। भारतवर्ष की प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य भी यही बताता है कि जहाँ, जिस प्रान्त में, जिस भाषा के बोलने वालों के बीच राष्ट्रीय भाव जागृत हुआ है, उसी भाषा का आधुनिक साहित्य भी उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हुआ है। बँगला, मराठी और गुजराती साहित्य इस बात के प्रमाण हैं और इधर थोड़े काल से हिन्दी-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि भी यही बताती है कि साहित्योन्नति और राष्ट्रीयता का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

यूरोप का इतिहास भी इसी बात का साक्षी है कि जिस समय किसी देश ने

राजनीतिक उन्नति की है, ठीक उसी समय या उसके आस-पास वहाँ के शिल्प, कला और साहित्य की भी उन्नति हुई है। सबसे पुरानी जाति—जिसकी विद्या, कला और साहित्य का प्रभाव यूरोप के समस्त इतिहास पर पड़ा है और जिसका साहित्य आज भी बड़े चाव के साथ मनन किया जाता है—ग्रीक जाति है। ग्रीस देश पर पारसियों का भयंकर आक्रमण खृष्टाब्द के प्रायः पाँच शताब्दी पूर्व हुआ था। उस समय ग्रीस में कई छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमे से एक एथेन्स ही पारसी आक्रमण का अवरोध करने मे अगुआ बना था और ग्रीस के सभी राज्यों को एक सूत्र मे बाँधकर उसी एथेन्स ने पारसियों को पराजित किया। इसका फल यह हुआ कि एथेन्स का नेतृत्व प्रायः सारे ग्रीस को स्वीकार करना पड़ा और इसी समय एथेन्स का साम्राज्य स्थापित हो गया। इतिहास लिखने वालों का विचार है कि ग्रीस के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व का समय यही था। उस समय का एथेन्स शान्ति, सुसंगठित शक्ति और पारस्परिक एकता का केन्द्र हो रहा था। दूसरे राष्ट्रों के साथ भी उसका किसी बात मे मन-मुटाव न था। पेरिक्लिस के नेतृत्व में उसके अधीन एक बड़ा साम्राज्य, जहाजों का एक बड़ा बेड़ा और बहुत धन था। इस समय का वर्णन करते हुए ऐतिहासिकों ने कहा है :

"मानव जाति के इतिहास मे यह एक आश्चर्यजनक घटना है, जिसके कारण का पता न तो किसी प्राचीन लेखक ने बताया है और न किसी अर्वाचीन मित्र की बुद्धि ने लगाया है। ऐसी अशान्ति के समय भी इस छोटे राज्य में, जिसकी स्वतंत्र प्रजा की संख्या शायद ही तीस हजार कुटुम्बों की हो, शिल्प, निर्माण-कला और विनय उतने उच्च स्थान तक पहुँच गए थे कि जिसके कारण एथेन्स, उस समय से आज तक पृथ्वी का गुरु समझा जाता है। आधुनिक काल में कई प्रकार के विज्ञानों ने उन्नति की है, और कला की कितनी ही नई-नई शाखाओं ने विज्ञान को सहायता दी है; पर उस समय का एथेन्स विचार-सौन्दर्य में यहाँ तक परिपूर्णता को पहुँचा था कि आज तक जहाँ कोई भी देश नहीं पहुँच पाया है। जिस प्रकार दिग्भ्रम में पड़ा हुआ मल्लाह ध्रुव तारे को देखकर अपना रास्ता ठीक कर लेता है, उसी प्रकार जब कभी बर्बरता ने अपना आधिपत्य जमा लिया है, तब विचारों की स्वच्छता को फिर से स्थापित करने के लिए उसी की ओर सबने देखा है और भविष्य में भी अधःपतन तथा भ्रष्टता से बचने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसके आदर्श को अपने सामने रखा जाय।"[1]

यहाँ के दर्शन, इतिहास, वाक्-चातुर्य, कविता तथा नाटक सभी में अत्यन्त सुन्दरता और गाम्भीर्य पाया जाता है और आज तक वे ही समस्त यूरोप के लिए पथ-प्रदर्शक हो रहे हैं।

[1] Historian's History of the World, Vol. III, page 431.

इसी प्रकार इस्लाम ने प्रायः पाँच सौ वर्षों के अन्दर अपना आधिपत्य एशिया, अफ्रिका और यूरोप के हिस्सों में जमा लिया था। उसका भी इतिहास यही प्रमाणित करता है कि मानसिक उन्नति—जिसका बाह्य स्वरूप सुन्दर साहित्य होता है—राजनीतिक उन्नति के साथ-ही-साथ हुई है। अब्बासी खलीफाओं का समय सबसे अधिक महत्त्व का समझा गया है, उसी महत्त्वपूर्ण समय के सम्बन्ध मे श्रीयुत अमीरअली, जो एक बड़े विद्वान् इतिहास-वेत्ता है, लिखते है : "उनका राज्य-प्रबन्ध ऐसा सुन्दर था कि वह आज के अच्छे-से-अच्छे देश की शासन-प्रणाली मे किसी बात में कम नही था। यहाँ तक कि पुस्तक बेचने वालों का स्थान समाज में बहुत ऊँचा था और लेखन-कला की भी बडी उन्नति हुई थी।"

इस सम्बन्ध में एक यूरोपीय विद्वान ने लिखा है :

"उस समय का अगाध साहित्य, वहाँ की प्रतिभा का चमत्कार और बहु-मूल्य आविष्कार, जो मानसिक शान्ति का परिचय देते हैं, इस बात के भी प्रमाण हे कि वे यूरोप के लिए सभी बातों में शिक्षक बने थे। उन्होंने एक ओर तो मध्य-कालीन इतिहास के लिए मसाला अपनी यात्राओं और जीवनियों में रख छोडा है और दूसरी ओर अपने अद्वितीय परिश्रम, सुन्दर निर्माण, शिल्प और कला के अत्यन्त उच्च उदाहरण दिये हैं।"[1]

खलीफ़ा मामून का समय इस्लाम के इतिहास में सबसे अधिक यशस्वी और प्रख्यात समझा जाता है और उसका प्रेम साहित्य, दर्शन और विज्ञान के ऊपर बराबर था। यह सच कहा गया है कि मुस्लिम देशों के मानसिक विकास के इतिहास का मूल मामून के राज्य-काल मे पाया जाता है।[2] स्पेन और अफ्रिका में मुस्लिम-राज्य स्थापित हो गया था। स्पेन में उसकी लम्बाई-चौड़ाई बहुत नहीं थी, पर उसमें एक बड़े साम्राज्य के सब सामान मौजूद थे। उसमें तीस बड़े-बड़े शहर, विस्तृत अस्सी दुर्ग और हजारों दीवारों से घिरे हुए गाँव थे, भूमध्य-सागर के किनारे पर कितने ही बन्दरगाह थे, जहाँ बड़ी तिजारत जारी थी। वहाँ के खेतों में सब प्रकार के अन्न उपजते थे और फलों के भण्डार से बाग़-के-बाग़ भरे पड़े थे। वहाँ के निवासी सभी स्थानों में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। वहाँ की राजधानी 'ग्रेनडा' अत्यन्त सुन्दर नगर था, जहाँ आमोद-प्रमोद के लिए सुन्दर बाग़-बगीचे और झरनों से सुशोभित एक बहुत ही मजबूत क़िला भी था। मकान भी बहुत ही मनमोहक तथा आराम-देह थे और वहाँ की तिजारत बहुत दूर तक फैली हुई थी। साथ ही वहाँ के खलीफ़ा, शिल्प और साहित्य के भी बड़े प्रेमी थे, उन्हीं की सहायता और विद्या-प्रेम के कारण

[1] Sedillot quoted by M. Amir Ali.

[2] खुदाबख्श, Islamic Civlization, pages 276, 277.

बड़े-बड़े विद्वानों और कवियों ने उपयुक्त पदों को सुशोभित किया था। केवल पुरुष ही नहीं, वरन् वहां की स्त्रियों ने भी साहित्यिक क्षेत्र में बड़ा काम किया था। केवल साहित्य में ही नहीं; बल्कि इतिहास, भूगोल, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, चिकित्सा और संगीत-शास्त्र को भी वहां के निवासियों ने उन्नति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया था। यहाँ तक कि वहां एक विश्वविद्यालय भी स्थापित था। महाविद्यालय के फाटकों पर निम्न लिखित अनमोल वाक्य लिखे रहते थे :

"पृथ्वी चार स्तम्भों पर खड़ी है—वे स्तम्भ हैं, विद्वानों की विद्या, बड़ों का न्याय, सुजनों की प्रार्थना—उपासना और भजन तथा वीरों का पराक्रम।"

भारतवर्ष के मुसलमानी राज्य में अकबर का राज्य बड़े महत्त्व का समझा गया है। यद्यपि अकबर ने भी हिन्दू-राजाओं को पराजित करके मुग़ल-राज्य स्थापित किया, तथापि अकबर के राज्य में हिन्दुओं के अपने धर्म-कर्म में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी। अकबर स्वयं बहुत बातों में हिन्दू-रीतियों और विचार-शैली को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था और उसने हिन्दुओं के प्राचीन-साहित्य से परिचय प्राप्त करने में परिश्रम भी किया था। उसका शासन प्रभावशाली होने के कारण देश में शान्ति थी। भारतवर्ष के लिए अकबर का राज्य-काल और इंगलेंड में एलिजाबेथ का राज्य प्रायः एक ही समय में पड़े थे और दोनों देशों के साहित्य पर उस समय का बहुत प्रभाव पड़ा है। अकबर की आज्ञा से बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों का उल्था फ़ारसी में किया गया था, जिनमें महाभारत, रामायण, अथर्ववेद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, पर उसके अतिरिक्त अकबर का समय हिन्दी-साहित्य के लिए भी अत्यन्त गौरव का है; क्योंकि उसके सूर्य और चन्द्रमा, 'तुलसी' और 'सूर' दोनों ही, मानो एक ही साथ उदय होकर विलक्षण ज्योति और प्रभा का विस्तार कर रहे थे।

यूरोपीय अर्वाचीन राष्ट्रों का इतिहास भी यही प्रमाणित करता है कि राष्ट्र और साहित्य का उत्थान समकालीन हुआ करता है। इंगलेंड के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि महारानी एलिजाबेथ का समय अत्यन्त गौरवान्वित समझा जाता है। महारानी विक्टोरिया का समय भी वैसे ही महत्त्व और गौरव का है। एलिजाबेथ का समय यदि स्पेन-निवासियों के साथ युद्ध में विजय-लाभ करके अंगरेज़ी राज्य और राष्ट्र के प्रभुत्व-स्थापन तथा वाणिज्य-व्यापार के विस्तार के ख़याल से महत्त्व का समझा जाता है, तो शेक्सपीयर आदि-जैसे प्रतिभाशाली महाकवियों के कारण भी वह समय कम गौरव का नहीं हो सकता। एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ने लिखा है कि किसी और अंगरेज़ी राजा के आस-पास इतने विख्यात राजनीतिज्ञ और शासक नहीं थे, जितने एलिजाबेथ के। कोई दूसरा राज्य भी ऐसा नहीं था, जिसमें साहित्यिक तथा प्रभा और तेज वाले धनी, तिजारती और वीर नाविक—जिन्होंने अपनी वीरता और साहस

से इंगलेंड के नाम को समुद्र पार के अज्ञात देशों में भी विख्यात किया था—एक ही साथ इतनी संख्या में पाये गए हों। उस समय ऐसे-ऐसे महापुरुष हो गए है, जिनके लिए कोई भी जाति और कोई भी समय अपने को गौरवान्वित मान सकता है। इसी प्रकार रानी एन का समय भी अत्यन्त महत्त्व का है। वह समय राजनीतिक सुधारों के लिए प्रख्यात है। इसी समय में न्याय राजा के पंजे से छुटकारा पाकर शुद्ध और स्वच्छ हो गया, फ़ौज स्थायी रूप से तैयार की गई, बहुत बातों में पार्लियामेण्ट का अधिकार स्थापित हो गया, समाचार-पत्रों को स्वतंत्रता मिल गई। सन् १६८८ ई० की राज्य-क्रान्ति में प्रजा के अधीन राजा को लाने का जो काम शुरू हुआ था वह और भी स्थिर और स्थायी हो गया। इसी समय यूरोप की कई लड़ाइयों में फ्रान्स को पराजित करके इंगलेंड ने बड़ी विजय प्राप्त की। इंगलेंड के साहित्यिक इतिहास में भी यह समय बड़े महत्त्व का समझा जाता है। उस समय साहित्य और विज्ञान के ज्ञाता राज्य के बड़े-बड़े पदों को सुशोभित करते थे। गणिताचार्य सर आइजक न्यूटन टकसाल के अधिपति, दार्शनिक जौन लौक वाणिज्य-मंत्री और एडीसन मंत्री का काम करते थे। इनके अतिरिक्त स्विफ़्ट प्रभृति दूसरे साहित्यिक सज्जन भी उत्साहित किये जाते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी इंगलैंड के इतिहास में सबसे अधिक गौरव और महत्त्व की है। नेपोलियन के विरुद्ध विजय पाकर इंगलैंड यूरोप की महाशक्तियों में प्रायः सर्वोच्च स्थान पा गया। उसका साम्राज्य पृथ्वी के सभी महा प्रदेशों में फैल गया। इंगलैंड का वाणिज्य अत्यन्त विस्तृत और उसका प्रभुत्व समस्त भू-मण्डल में स्थापित हो गया। इसी शताब्दी में प्रजासत्तात्मक राज्य भली भाँति स्थापित हुआ। जहाँ देखिए वहीं अँगरेज़ी महत्ता और उसके प्रभुत्व का प्रभाव देखा जाता है। इस शताब्दी में भी अँगरेज़ी महाकवियों और अँगरेज़ी साहित्यिकों की प्रतिभा ने अपना चमत्कार खूब ही दिखाया है। वर्ड्सवर्थ, वाल्टर स्कॉट, बायरन, शैली, टेनीसन, ब्राउनिङ्ग की कविताएँ संसार की उत्तमोत्तम कविताओं की तुलना में आ सकती हैं, इसी प्रकार कार्लाइल, रस्किन, जौन मौर्ले प्रभृति का गद्यकाव्य किसी समय के अच्छे गद्य के साथ मुक़ाबला कर सकता है। थैकरे और डिकेन्स के उपन्यास आज भी अपनी योग्यता के लिए मशहूर हो रहे हैं। विज्ञान और दर्शन के भी धुरन्धर लेखकों का अभाव नहीं है। सारांश यह है कि इंगलैंड के इतिहास में यदि राजनीति, साम्राज्य और वाणिज्य की दृष्टि से यह समय अत्यन्त महत्त्व और गौरव का है, तो शिल्प-कला, विज्ञान, दर्शन तथा गद्य-पद्यमय साहित्य की दृष्टि से भी यह समय वैसा ही गौरवशाली और महत्त्वपूर्ण है।

फ़्रान्स के इतिहास में खृष्टाब्द की १५ वीं शताब्दी बड़े मार्के की हुई है। इसी

शताब्दी में राजा के अधिकार बहुत ही विस्तृत और पक्के हो गए हैं। १३ वें और १४ वें लुई का राज्य कई बातों के लिए प्रसिद्ध है। १३ वें लुई के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह बहुत धार्मिक और उदार राजा था। वह सदा धर्म के पालन और दूसरे की भलाई करने में तत्पर रहता था; पर वह कमजोर था और इसी से उसे दूसरे के सहारे पर भरोसा करना पड़ता था। इसीलिए उसके राज्य-काल में रिशलू का दबदबा फ्रांस में जम गया। रिशलू ने राजा की महत्ता और शिष्टता को इस दर्जे तक पहुँचा दिया कि राज-सत्ता और प्रजा-हित दोनों में कुछ भी अन्तर न रह गया। रिशलू ने प्रोटेस्टेंट धर्म को प्राय: विनष्ट करके वहाँ एकता स्थापित कर दी। सूबेदारों के अधिकार और शक्ति कम करके उसने राजा की शक्ति बढ़ा दी। न्याय का काम ठीक-ठीक चलने लगा, प्रतिभा संगठित रूप से काम करने लगी, खजाने के काम पर पूरी निगरानी रहने लगी। उसने समाचार-पत्र का भी आविष्कार किया तथा जनता की भलाई के लिए स्थान-स्थान पर चिकित्सालय कायम हुए। कृषि, शिल्प और वाणिज्य-व्यापार में उन्नति की गई, नहरें खुदवाई गईं फौज की सुन्दर व्यवस्था हुई, जंगी और तिजारती बेड़े तैयार कराये गए। साथ ही उसने साहित्य, विज्ञान और शिल्प को भी प्रोत्साहन देने में कमी न की। उसी ने ४० विद्वानों की संस्था स्थापित की, जिसका नाम 'फ्रेञ्च एकेडमी' रखा गया। फ्रेञ्च एकेडमी का सदस्य होना, आज भी विद्वानों के लिए सबसे बड़ी प्रतिष्ठा समझी जाती है। इस समय साहित्य को जो प्रोत्साहन मिला, उसका प्रभाव कुछ दिनों बाद तक चला। १४ वें लुई के समय का साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और उस समय विज्ञान, कविता, वाचन-शक्ति, नाटक, निर्माण, शिल्प, संगीत-शास्त्र, सभी बड़ी उन्नत अवस्था को प्राप्त हुए। इसी प्रकार फ्रांस की बड़ी राज्य-क्रान्ति के पूर्व वाल्टेयर, डिडरो और रूसो ने उसके लिए जमीन तैयार कर रखी थी। इन्हीं के लेखों ने फ्रांस की जनता के विचारों और भावों में इतना परिवर्तन कर दिया था, कि जो देश उस समय तक राजा के अधिकारों में जकड़बन्द थे, वहीं थोड़े ही दिनों बाद शक्तिशाली राज्य को चूर-चूर करके जनता ने प्रजा-सत्तात्मक राज्य स्थापित कर लिया। इससे बढ़कर पृथ्वी के इतिहास में राजनीति पर साहित्य के प्रभाव का प्रमाण दूसरा नहीं मिलता। एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासवेत्ता एमबोल्ट ने लिखा है, कि वाल्टेयर का आधिपत्य १४ वें लुई के आधिपत्य से अधिक प्रभावशाली था। सच्चा राजा वही था, क्योंकि उसका अधिकार प्रजा के मस्तिष्क और हृदय दोनों पर था। उस समय के जितने विचार थे, सबमें उसने उथल-पुथल मचा दी। इसी प्रकार रूसो का प्रभाव भी बहुत गहरा पड़ा। उसने फ्रेञ्च जाति के विचारों में क्रान्ति पैदा कर दी, जिसका असर थोड़े ही काल में वहाँ की राज्य-क्रान्ति के रूप में देखा जाता है। यह उसी की शिक्षा थी कि

'प्रकृति सभी मनुष्यो को एक दूसरे के बराबर पैदा करती है, तो फिर एक मनुष्य दूसरे पर क्यो अधिकार जमाता है ? स्वत्व का कारण शक्ति नही हो सकती, क्योकि यदि ऐसा हो तो अधिक शक्तिशाली होने मे ही स्वत्व बढ जायगा अर्थात् शक्ति के घटने-बढने से स्वत्व नही घटता-बढता ।" उसने लोगो को यह भी बताया कि "जब मनुष्य स्वतत्र जन्म लेता है, तब उस पर दूसरे का किसी प्रकार का अधिकार नही हो सकता । पर मनुष्य-जाति का व्यक्ति अपनी रक्षा और हित के लिए, अपने अधिकारो को, राजा के यह प्रतिज्ञा करने पर कि वह उनकी रक्षा करेगा, छोड देता है, और इस लिए जो अधिकार राजा के है, वे प्रजा के दिये हुए है अर्थात् प्रजा के ही अधिकार है ।" इस शिक्षा का प्रभाव केवल फ्रान्स की क्रान्ति में ही नहीं, वरन् समस्त यूरोप के इतिहास पर देखा जाता है और यह नहीं कहा जा सकता कि अब भी वह प्रभाव यूरोप से बिलकुल हट गया ।

फ्रान्स का इस समय का इतिहास एक ऐसी जाति का इतिहास है जो अपने देश के अमीर-उमरा और राजाओं के अत्याचारों से पीड़ित होकर समाज-संगठन को एक बारगी तोड़-मरोड़कर तथा नई संस्थाएँ स्थापित करके राज्य-संचालन का भार जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप देती है, पर उनमें सहिष्णता, धर्म और त्याग के अभाव के कारण प्रजा की नव-जागरित शक्ति फिर एक मनुष्य के हाथ की कठपुतली बनकर प्रायः बीस बरसों तक यूरोप को अपने पाँवों के नीचे दबाये रखती है । साहित्य ने अपने ही देश मे स्वदेशीय राजा के विरुद्ध राज्य-क्रान्ति कराई; पर इतिहास मे इस बात के भी उदाहरण मौजूद है जब अन्य-देशीय राजा के विरुद्ध पद-दलित जनता ने उठ खड़ी होने का प्रयास और स्वराज्य स्थापित करने का प्रयत्न सर्व प्रथम अपनी भूली हुई भाषा और विस्तृत साहित्य का सहारा लेकर किया है । यह एक जानी हुई बात है कि जब एक देश दूसरे देश पर अपना आधिपत्य जमा लेता है, तब उस आधिपत्य को स्थायी बनाने के लिए वह विजित प्रजा के विचारों तथा भावों को इस प्रकार बदल देना चाहता है, जिसमें वह अपने गौरव को भूल जाय और केवल विजेता के ही गौरव तथा महत्ता की स्मृति रख सके । इसके उदाहरण सभी विजित जातियों के इतिहास मे पाये जाते है ।

भारतवर्ष भी मुसलमानी आधिपत्य-काल से आज तक इसी नीति का शिकार बनता चला आया है । मुसलमानी राज्य-काल मे हिन्दुओं को राज-कर्मचारी बनने के लिए फ़ारसी की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी और यद्यपि उसका प्रभाव उनके जीवन और रहन-सहन पर बहुत पड़ा, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मस्तिष्क इतना दुर्बल हो गया था कि जिससे वह कोई भी प्रतिभाशाली पुरुष उत्पन्न न कर सका हो । उसी समय प्रायः सभी प्रान्तिक भाषाओं के उत्तमोत्तम कवि हुए है । अँगरेजी

राज्य ने अपना प्रभाव हमारे जीवन के कोने-कोने मे पहुँचाया। यद्यपि अंगरेजी शिक्षा और अगरेजी भाषा का विस्तार इतना अधिक नही हुआ है, जितना हो सकता था; फिर भी उनका प्रभाव बहुत गहरा पड़ा, फल यह है कि आज अंगरेजी शिक्षित-समाज दुर्बल और परावलम्बी हो रहा है—वह अंगरेजी सभ्यता, अंगरेजी प्रतिभा, अंगरेजी शक्ति, अंगरेजी साहित्य और अंगरेजी गौरव के भार से इतना दब गया है कि वह अपने देश के इतिहास, साहित्य, और शक्ति पर भरोसा नही कर सकता। हाल का दूसरा उदाहरण एक छोटी सी घटना मे पाया जाता है। यूरोपीय महासमर के बाद जब सुलह की बात हो रही थी, तब फ्रांस ने सीरिया पर अपना आधिपत्य कायम रखने के सबूत मे यह भी कहा कि इसने उस देश मे बहुतेरे विद्यालय स्थापित कर दिए है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि फ्रांस ने मानसिक आधिपत्य जमाना आरम्भ कर दिया है; इसलिए उसे राजनीतिक आधिपत्य भी प्राप्त करने का हक हो गया है। इसलिए विजित जातियो ने स्वराज्य के संग्राम मे पहले विजेता के मानसिक आधिपत्य से अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया है। इसके उदाहरण-स्वरूप हंगरी और आयरलेण्ड के इतिहास है।

हंगरी यूरोप का एक देश है जो आस्ट्रिया के अधीन हो गया था। यो तो दोनों देशो ने एक दूसरे के साथ मिलकर, बराबरी का दरजा रखते हुए, एक राजा के आधिपत्य को स्वीकार किया था, पर राजधानी आस्ट्रिया के 'वियना' नगर मे होने के कारण और हंगरी के देश-प्रेम के अभाव के कारण आस्ट्रिया ने हंगरी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और जब हंगरी के कुछ स्वदेश-प्रेमियों ने आस्ट्रिया के विरुद्ध षड्यंत्र किया, तब उसके नेता फाँसी पर लटका दिए गए, पर कुछ लोगों ने हंगरी की जातीयता और राष्ट्रीयता की याद को क़ायम रखा और जब १८३२ ई० मे वहाँ की महासभा की बैठक हुई, तब एक ऐसी घटना हुई, जिसका प्रभाव हंगरी के इतिहास पर बहुत पड़ा। उस महासभा मे हंगरी के एक धनी नवयुवक ने उठकर मातृ-भाषा मे वक्तृता दी। उसके अपने देशी भाइयों ने, जिन्होंने आस्ट्रिया की संगति मे पड़कर अपने राष्ट्रीय भाव को बिलकुल खो दिया था, उसका तिरस्कार करना आरम्भ कर दिया और उसकी इस धृष्टता का कारण उसकी कम उम्र को बताया; पर जब फिर दुबारा अवसर आया, तब वह नवयुवक फिर भी अपनी मातृ-भाषा बोलने का अपराधी हुआ। इसका फल यह हुआ कि वह उसी समय से जनता की आँखों मे श्रद्धास्पद हो गया। बहुतेरे उसकी इस ढिठाई से डर गए, बहुतेरों के हृदय में जातीयता के भाव जाग्रत हो गए; पर मातृ-भाषा के उस अनोखे प्रेमी 'जेकेनी' ने राजनीतिक नेतृत्व अपने हाथों में नहीं लिया, उसने हंगरी की शिक्षा, शिल्प, विज्ञान और साहित्य को ही पुनरुज्जीवित करने का भार अपने

ऊपर लिया और जो कार्य 'जेकेनी' ने अपनी मातृ-भाषा का उद्धार करके उसके द्वारा आरम्भ किया था, उसे उस समय के राजनीतिक नेता 'डीक' की चतुरता और दृढ़ता ने, असहयोग द्वारा, हंगरी में कुछ दिनों के बाद पूरा किया। जनता की ओर से दो माँगें पेश की गईं: एक तो यह कि हंगेरी के निवासियों से उतना ही कर लिया जाय जितना आस्ट्रिया के निवासियों से लिया जाता है, और दूसरी यह कि हंगेरी की भाषा को भी राज्य-कार्य में स्थान दिया जाय। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी भाषा के महत्त्व को कितना ऊँचा समझा था। और, इसीलिए कहा गया है कि पृथ्वी की किसी भी दूसरी जाति के सम्बन्ध में उतनी सचाई के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी आत्मा उसके साहित्य में लिप्त है जितनी मैगियार (हंगेरी जाति) के विषय में। अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बचाये रखने की चेष्टा सर्वदा अपनी मातृभाषा और साहित्य की महत्ता के साथ ही अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखती है। जिस समय हंगेरी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में लगा हुआ था उसी समय उसके कवियों और नाटककारों ने उत्तमोत्तम ग्रन्थ रचे। उसके वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक अन्वेषण से विज्ञान की सीमा बढ़ाई और ऐतिहासिकों ने खोज करके इतिहास लिखा, जिसका फल यह हुआ कि राष्ट्रीयता जागरित हुई और देश का उद्धार हुआ!

इसी प्रकार, आयरलैण्ड का इतिहास भी बताता है कि मानसिक स्वतंत्रता और स्वाधीन विचार ही बाह्य राजनीतिक स्वतंत्रता के कारण हो सकते हैं। इसलिए विजित और पतित जातियों का, अपने को स्वतन्त्र और उन्नत बनाने का, पहला काम यही होना चाहिए कि वे अपनी मानसिक स्वतंत्रता, विचार-स्वतंत्रता और नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें। इसके लिए विजित जाति विजेता जाति के आचार-व्यवहार, रहन-सहन, भाषा और साहित्य के आधिपत्य से अपना छुटकारा करा ले। जब तक अपने इतिहास, साहित्य, धर्म और रीति में श्रद्धा तथा प्रेम न हो, तब तक सच्ची जातीयता का बीज-वपन नहीं हो सकता। आयरलैण्ड के हित-चिन्तकों ने इस तत्त्व को अच्छी तरह समझ लिया था और गेलिक-प्रचारिणी सभा स्थापित करके अपने साहित्य तथा भाषा को उन्नत करने का प्रयत्न करना अपना कर्त्तव्य समझा और आयरिश जाति के पुनरुद्धार के लिए आयरिश भाषा का पुनरुद्धार आवश्यक माना। इस सभा ने अपना मुख्य उद्देश्य आयरिश भाषा की रक्षा, आयरिश साहित्य का पठन-पाठन और भाषा के भाण्डार को पूर्ण करना रखा। इसका सिद्धान्त है कि जातीय जागृति मातृ-भाषा-प्रचार के बिना नहीं हो सकती। टौमस डेविस ने कहा था:

"मातृ-भाषा-हीन जाति 'जाति' नहीं कही जा सकती। मातृ-भाषा की रक्षा देश

की सीमा की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है क्योंकि यह पर्वत और नदी से भी अधिक बलवती है। जब तक भाषा आयरिश रहेगी, हृदय और मर्म भी आयरिश रहेगा। यह निश्चय जान रखो कि आयरिश-भाषा-भाषी आयरलैण्ड सर्वदा स्वतन्त्र रहेगा। क्या तुम जानते हो कि हमारी मातृ-भाषा क्या है ? यह निर्जीव शब्दों का कोष भी है, अपरिचित चिह्नों का भाण्डार भी है जो जाति के विचारों को और उसके हृदय-स्थित भावों को सुरक्षित रखकर उन्हें दूसरों पर प्रकट करती है। हमारे इतिहास, विचार और प्राचीन साहित्य-भण्डार की यह कुञ्जी है। इससे भी अधिक यह उस प्रभावशाली साहित्य का दिग्दर्शन कराती है जो मननीय विचारों और प्रबल वासनाओं से परिपूर्ण है। हा ! उसी को हम भुलाना चाहते हैं ? वास्तव में आयरलैण्ड का भावी साहित्यिक और मानसिक गौरव मातृ-भाषा के भविष्य पर ही निर्भर है।

* * * *

"हमारी सन्तान के लिए मस्तिष्क की स्फूर्ति को बढ़ाने का उपाय मातृ-भाषा के अध्ययन से बढ़कर दूसरा नहीं।

* * * *

"यह भाषा हृदय को उत्तेजित करती है, मन को दृढ़ बनाती है, आत्मा को शुद्ध रखती है।

* * * *

"इसके मनन से विचार ऊँचे होंगे, मन और आत्मा में बल आयगा।

"हमारी मातृ-भाषा हमें अपने जातीय गौरव की ओर आकर्षित करके पुनः आयरिश बनायगी। हममें वह फिर से उस आत्म-गौरव, शक्ति तथा भक्ति-भाव का संचार करेगी, जिसकी समुपस्थिति गिरी हुई जाति के हृदय में अपनी जातीयता के भावों को उत्पन्न करती है और साथ-ही-साथ सांसारिक विभव के मार्ग को भी खोल देती है।"[1]

क्या हम भारतवासी इन भावों को समझ सकते हैं ? क्या आज आयर की स्वतन्त्रता इन्हीं भावों के प्रचार का फल नहीं है ? केवल आयरलैण्ड की भाषा का ही पुनरुत्थान नहीं हुआ, बल्कि उसके साहित्य की वृद्धि हुई और राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही इस वर्ष (१९२३ ई०) आयरलैण्ड के कवि 'ईट्स' ने दुनिया का सर्वोच्च पुरस्कार (नोबेल प्राइज) अपनी कविता के लिए भी प्राप्त किया है।

गत बोअर-युद्ध के बाद जब इंगलैण्ड और बोअरों के बीच सुलह हुई, तो बोअरों ने अँगरेजी सत्ता और साम्राज्य का आधिपत्य तो स्वीकार किया, पर एक शर्त करा ली कि सब राज्य-कार्य में और विद्यालयों में अँगरेजी भाषा के साथ-साथ उनकी मातृ-

[1] 'आयरलैण्ड में मातृभाषा' से उद्धृत

भाषा 'डच' का भी व्यवहार किया जाय, और उसी के अनुसार आज सब सरकारी दफ्तरों में 'डच' से भी काम लिया जाता है। इसके प्रतिकूल हम भारतवासियों से कहा जाता है कि अमुक प्रान्त अब इतना उन्नत हो गया है कि वहाँ सब काम-काज अँगरेजी द्वारा हो सकते हैं और हाईकोर्ट में तो नियम है कि कोई कागज़ देशी भाषा में नहीं दाखिल किया जा सकता । कौंसिलों में शायद नियम है—बिहार की तो मैं जानता हूँ—कि जो अँगरेज़ी जानते हैं वे केवल अँगरेज़ी भाषा में ही व्याख्यान दे सकते हैं।

इस समय वेलस में भी वेलस की भाषा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न हो रहा है और यूरोप की जितनी छोटी-छोटी जातियाँ हैं, सब मातृभाषा के पुनरुद्धार के प्रयत्न में लगी हुई हैं।

मैंने आपका इतना समय, विदेशी इतिहास से उदाहरण लेकर, यह प्रमाणित करने में कि राष्ट्रीयता और भाषा में कितना गहरा सम्बन्ध है, लिया है । आज, जब हम देशोद्धार और स्वराज्य-प्राप्ति के महान् और पवित्र संग्राम में लगे हुए हैं, यह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीयता एकता के बिना अधूरी है और राष्ट्रीय एकता राष्ट्र के हृदय में अपने-आप ऐसी भाषा द्वारा अपने भावों को प्रकट करने की प्रेरणा करती है जो सब में समान समझी जा सकती हो । इस समय भारतवर्ष में बहुत सी भाषाएँ बोली जाती हैं । यों तो कहा जाता है कि तीन कोस पर ही बोली बदल जाती है; मुख्य प्रान्तीय भाषाएँ —जिनमें पहले के लिखे हुए ग्रन्थ मौजूद हैं और आज भी नई-नई पुस्तकें लिखी जाती हैं—बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, पंजाबी, सिंधी, असमिया और उड़िया हैं । ये प्रान्तीय भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रचलित हैं और उन-उन प्रान्तों के निवासियों का इनके साथ प्रेम है । यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, तो उसका अर्थ इतना ही है कि राष्ट्रीय और अन्तर्प्रान्तीय कामों के लिए एक सर्व-व्यापी भाषा हो। उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि प्रान्तिक भाषाओं को लुप्त कर दिया जाय अथवा उनके स्थान पर हिन्दी स्वीकृत हो जाय। यदि किसी के हृदय में ऐसा विचार हो भी, तो यह असम्भव है। न बंगाली बंगला के सुन्दर साहित्य को छोड़ सकते हैं और न गुजराती अपनी गुजराती को। कोई अन्य भाषा-भाषी भी अपने साहित्य अथवा भाषा को छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। साथ ही, यह भी स्वीकार करना होगा कि एक भाषा के बिना राष्ट्र का काम कदापि नहीं चल सकता—जैसे अँगरेजी राज्य में अँगरेजी शिक्षा के बिना। ऐसे भारतवासी, जो अँगरेजी समझ-बोल सकते थे, एकत्र होकर इसकी स्थिति पर विचार करने लगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आज (१९२३ ई०) से अड़तीस वर्ष पूर्व, जब

राष्ट्रीय महासभा (नेशनल कांग्रेस) की स्थापना (१८८५ ई० में) की गई थी तब, जिन लोगों को इसका श्रेय है, वे केवल अंगरेजी को ही अपना माध्यम बना सकते थे। अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय कामों के लिए अभी तक अंगरेजी का ही उपयोग बहुत अंशों में किया जा रहा है। अंगरेजी भाषा द्वारा ही हमारे देश में राजनीतिक भाव अंगरेजी जानने वालों के बीच प्रचारित किये गए हैं और अंगरेजी भाषा को इसका श्रेय प्राप्त है कि उसके द्वारा भारतवर्ष के नव-शिक्षित समाज में राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ, यह सब मानते हुए भी कहना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष में शिक्षितों की संख्या आज भी सौ में पाँच या छः से ज्यादा नहीं और उनमें अँगरेजी जानने वालों की संख्या हजार में तीन या चार है। यही कारण है कि राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह उन्हीं इने-गिने लोगों तक पहुँच सकता था, जो अँगरेजी जानते थे। यदि कोई ऐसी आशा करता हो कि ऐसा भी समय कभी आ सकता है जब अँगरेजी भाषा समस्त भारतवर्ष की जनता में प्रविष्ट होकर सचमुच राष्ट्र-भाषा का काम करेगी, तो यह आशा कदापि पूरी होने वाली नहीं। यदि राष्ट्र के भाव को केवल देश के मुट्ठी-भर शिक्षित लोगों तक परिमित करके नहीं रखना है—उसे सर्व-व्यापी करना मंजूर है यदि प्रत्येक भारतवासी के हृदय में—चाहे अमीर हो या गरीब, स्त्री हो अथवा पुरुष, बूढ़ा हो या बच्चा—राष्ट्रीय भाव संचारित करना है, तो ऐसी भाषा की, जो सहज ही लोगों की समझ में आ सके, शरण लिये बिना कदापि ऐसा होना सम्भव नहीं। जब हम यह विचार करते हैं कि डेढ़ सौ वर्षों से अधिक अँगरेजी राज्य स्थापित होने के बाद और नब्बे वर्षों तक अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने पर भी तथा समस्त अँगरेजी शिक्षा का उतने दिनों तक यह मुख्य उद्देश्य रहते हुए भी आज इतने थोड़े भारतवासी अँगरेजी लिख-पढ़ सकते हैं, तो यह स्पष्ट है कि अभी जहाँ तक मनुष्य की आँखें देख सकती हैं, अँगरेजी का भारतवर्ष में सर्व-व्यापी होना असम्भव है। इसलिए देशी भाषाओं की शरण लेना हमारे लिए अनिवार्य है।

इतना ही नहीं। यदि देशी भाषाओं द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में काम किया गया होता, तो आज देश की परिस्थिति कुछ और ही होती। अब तक के जिन-जिन आन्दोलनों में अँगरेजी और देशी भाषाओं द्वारा काम किया गया है, उनकी तुलना करने से पता चलता है कि देशी भाषाओं में कठिनाइयों और बाधाओं को दूर करने की कितनी अद्भुत शक्ति है। पिछले सौ वर्षों के अन्दर भारतवर्ष में तीन-चार मुख्य धार्मिक आन्दोलन हुए हैं—उनमें सबसे पहले ब्रह्म-समाज की स्थापना राजा राममोहन राय के द्वारा प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व हुई थी। यद्यपि उस समय के ब्रह्म-समाज के सिद्धान्त कई अंशों में वेदान्त से मिलते-जुलते थे, तथापि सामाजिक विषयों में उस समाज के विचार आरम्भ से प्रचलित रीतियों से भिन्न थे। ज्यों-ज्यों

अँगरेज़ी शिक्षा की उन्नति होती गई—यहाँ यह भी याद रखने योग्य बात है कि भारतवर्ष में अँगरेज़ी भाषा के प्रवेश कराने में राजा राममोहन राय का भी बहुत बड़ा भाग है—ब्राह्म समाज अधिकाधिक अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही अपना काम चलाता गया और गत ३०-४० वर्षों के अन्दर उसके साहित्य, भाव और विचारों पर पाश्चात्य और विशेषकर अँगरेज़ी भाव, धर्म तथा विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसका फल यह हुआ कि जनता मे इसका प्रचार नहीं हो सका और केवल अँगरेज़ी-शिक्षित लोगों में चन्द आदमियों तक ही इस धर्म की छाया पहुँच सकी। इसी प्रकार, थियोसोफ़ी (ब्रह्म-विद्या-समाज) का भी इतिहास यही बतलाता है कि देशी भाषाओं के आश्रय बिना नये विचारों का प्रचार कितना कठिन है। भारतवर्ष में थियोसोफ़ी और आर्य-समाज दोनों के जन्म प्रायः एक ही समय हुए थे। थियोसोफ़ी का जो रूप इस देश में हुआ, वह प्रचलित धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था और उसका प्रचार बहुतायत से होना अपेक्षित था। इससे उलटा आर्य-समाज का आन्दोलन धार्मिक और सामाजिक विचारों और रीतियों में उथल-पुथल करने वाला आन्दोलन था। हिन्दू-समाज में बहुत प्राचीन काल से मूर्ति-पूजा प्रचलित है। वर्णाश्रम-धर्म, जाति-पाँति का भेद हिन्दुओं की नस-नस में ये भरे हुए थे। आर्य-समाज ने दोनों का घोर खण्डन किया; पर आर्य-समाज ने अपना प्रचार हिन्दी द्वारा किया और आज आर्य-समाज तथा थियोसोफ़ी के अनुयायियों की संख्या देखने से ही प्रमाणित हो जाता है कि देशी भाषा द्वारा समाज की प्रचलित रीति-नीति का विरोध विदेशी भाषा द्वारा उन रीतियों के पुष्टीकरण से कहीं अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार काँग्रेस की चौंतीस-पैंतीस वर्षों की कारवाई की तुलना पिछले तीन वर्षों की काँग्रेस की कार्यवाही से की जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि राष्ट्र के जमाने में राष्ट्र-भाषा कितना काम कर सकती है। जो संदेश पैंतीस वर्षों में थोड़े लोगों तक पहुँच सका था, वही संदेश आज इस विस्तृत और विशाल देश के पल्ली-पल्ली, ग्राम-ग्राम, घर-घर और बच्चे-बच्चे तक पहुँच गया। क्या इतने पर भी यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि इस नव जागरित भाव को यदि और भी पुष्ट तथा उन्नत करना हमारा ध्येय है तो जो थोड़ा-बहुत राष्ट्रीय काम आज भी विदेशी भाषा द्वारा किया जा रहा है उसे भी हमें देशी भाषा द्वारा ही करना चाहिए?

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं की जगह नहीं ले सकती उसे समस्त देश और अन्तर्प्रान्तीय कामों में ही व्यवहृत करना चाहिए। उनमें भारत-वर्ष-भर के लिए राष्ट्र-भाषा बनने की पूरी योग्यता है। जितनी प्रादेशिक भाषाएँ हैं, वे सभी वास्तव में प्रादेशिक हैं। मैं मानता हूँ कि उनके साहित्य बहुत उच्च कोटि

के तथा बहुत प्राचीन है। उनका आधुनिक साहित्य भी बहुत उत्तम है; तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उनका प्रचार प्रान्त विशेषों में ही है। हिन्दी तो उत्तर भारत, बिहार, संयुक्त प्रदेश, राजपूताना, मध्य-प्रदेश और पंजाब में बोली जाती है। इनके अतिरिक्त सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र में लोग इसे भलीभाँति समझ लेते हैं। बड़े-बड़े शहरों, व्यापार के केन्द्रों और तीर्थ स्थानों में सभी जगह लोग इसे समझते और बोलते हैं। केवल दक्षिण में यह नहीं पहुँच पाई है। राष्ट्रीय कामों में लगे रहकर आसाम से पूना तक और ढाका से जैकोबाबाद तक मैंने प्रायः सभी मुख्य-मुख्य स्थानों में हिन्दी में भाषण किये हैं और मैं यह कह सकता हूँ कि वहाँ की जनता ने भी उसके भाव अवश्य समझे हैं। स्त्रियों की सभाओं में भी मैंने वक्तृताएँ दी हैं और अपने विचारों को उन पर अच्छी तरह प्रकट कर दिया है।

हिन्दी भाषा का साहित्य प्राचीन, सुन्दर और गौरवपूर्ण है। इसके सम्बन्ध में मैं कुछ विशेष नहीं कहना चाहता; क्योंकि इसके लिए न तो मुझमें योग्यता है और न उसके सुनने के लिए यहाँ आपके पास समय ही है। यदि आप गत अधिवेशनों के सभापतियों के भाषण पढ़ेंगे और, उन अधिवेशनों में पठित लेखों के संग्रहों को देखेंगे, तथा हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे, तो आपको इस साहित्य की प्राचीनता, मधुरता और गम्भीरता का परिचय सहज ही में मिल जायगा। भाषा भी अत्यन्त सुन्दर, मधुर और सरल है, बल्कि यदि एक तरफ इसका भण्डार केवल संगीत से पूर्ण है, तो दूसरी तरफ इसमें उच्च-से-उच्च दार्शनिक भाव भलीभाँति व्यक्त किये गए हैं। इसके हँसी मजाक के चुटकुले भी पाठकों को हँसाते-हँसाते लोट-पोट करा देने में समर्थ हैं। वैज्ञानिक शब्दों का जो अभाव था, वह भी बड़ी शीघ्रता के साथ संस्कृत तथा अन्य भाषाओं की सहायता से दूर किया जा रहा है। अन्य भाषा-भाषियों के लिए हिन्दी का ज्ञान लेना सुगम है। व्याकरण के नियमों के अनुसार शुद्ध हिन्दी लिखना तो कुछ कठिन है; पर हिन्दी में बात-चीत कर लेना अत्यन्त सहज है। वैसे ही लिपि भी प्रत्येक प्रकार के स्वर को व्यक्त करने में समर्थ और देखने में सुन्दर है। इसकी लिपि का प्रचार भी भाषा के प्रचार से कम नहीं है, क्योंकि हिन्दी और मराठी के लिए एक लिपि है ही; पर अन्य प्रान्तों में भी जहाँ देवनागरी लिपि प्रान्तिक भाषा के लिए एक लिपि व्यवहृत नहीं है, वहाँ भी संस्कृत ग्रन्थ देवनागरी लिपि में ही छापे और पढ़े जाते हैं। इसलिए यदि कहा जाय कि भारतवर्ष के अधिकांश स्थानों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि आज भी प्रचलित है तो अत्युक्ति नहीं होगी। देवनागरी लिपि का प्रचार केवल आन्ध्र

प्रदेश, तामिलनाड, केरल और कर्णाटक में कर देने से ही यह समस्त भारतवर्ष में सहज में ही प्रचलित हो जायगी। अतः आज हिन्दी के लिए इस अभेद्य दुर्ग के दरवाजे भी खुलते जा रहे हैं। गत पाँच वर्षों में महात्मा गाँधी की कृपा, साहित्य-सम्मेलन के प्रयत्न और उत्साही तथा त्यागी प्रचारकों के परिश्रम से तीस हज़ार पुरुष और स्त्रियों ने हिन्दी का रसास्वादन किया है, जिनमें पाँच हज़ार व्यक्ति भली-भाँति हिन्दी बोल और लिख सकते हैं। जब मुझे यह स्मरण होता है कि आज मैं आन्ध्र-प्रदेशीय नर-नारियों द्वारा हिन्दी में व्याख्यान सुन सकता हूँ और उनको हिन्दी में ही कुछ कह सुनाने की धृष्टता करने पाता हूँ, तो मेरा हृदय गदगद हो जाता है और विश्वास सुदृढ़ हो जाता है कि हिन्दी-भाषा-भाषियों ने यदि इन प्रदेशों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया तथा इन प्रदेशों के निवासियों ने हिन्दी को अपनाने में जो उदारता, निस्पृहता और राष्ट्र-प्रेम दिखाया है, उसे यदि वे भविष्य में भी स्थिरता के साथ बरतते गए, तो सचमुच थोड़े ही काल में हिन्दी समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा बन जायगी।

मैंने हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह केवल अपनी ही बुद्धि और समझ के अनुसार नहीं कहा है, बल्कि देश के विद्वान् और हितैषी लोगों ने भी एक स्वर से ऐसी ही सम्मति दी है। इस सम्बन्ध में केवल अन्य भाषा-भाषी कतिपय विद्वानों—यथा प्रातः-स्मरणीय स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गान्धी, श्री १०८ जगद्गुरु शंकराचार्य जी करवीरपीठाधीश, श्री १०८ जगद्गुरु शंकराचार्य जी शारदापीठाधीश, स्वर्गीय सर गुरुदास बैनर्जी, स्वर्गीय न्यायाधीश श्री शारदाचरण मित्र, स्वर्गीय श्रीकृष्णस्वामी अय्यर, महामना डॉक्टर एनी बेसेण्ट, प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता श्री रमेशचन्द्र दत्त प्रभृति के नाम दे देना ही अलम् होगा।

हिन्दी-भाषा-भाषियों को उचित है कि वे इस बात पर भी विचार करें कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने में अन्य-भाषा-भाषियों के सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ पड़ती हैं तथा उसको और भी सुगम तथा सहज साध्य बनाने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन करना ज़रूरी है। साथ ही, यह भी विचार करने की बात है कि हिन्दी की आधुनिक शब्दावली और रचना-प्रणाली तथा व्याकरण में किसी सुधार अथवा परिवर्तन की आवश्यकता है या नहीं। इस दृष्टि से यदि शब्दावली पर विचार किया जाय, तो जान पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी में संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द अधिकाधिक प्रयुक्त होते जा रहे हैं। उसी प्रकार उर्दू, जिसका व्याकरण और रचना-प्रणाली हिन्दी से बहुत मिलती-जुलती है, आज अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्दों से भरी जा रही है। आज हम यह चेष्टा कर रहे हैं कि दक्खिन के प्रदेशों के निवा-

सियों में हिन्दी का प्रचार हो। ऐसी हालत में क्या यह बुद्धिमानी का काम होगा कि हम इस हिन्दी को उर्दू से—दोनों के व्याकरण और रचना-शैली एक रहते हुए भी, केवल शब्दावली के कारण—इतना अलग कर दें कि एक दूसरे का मुख़ालिफ़ बन जाय ? साथ ही, यह भी विचार करना है कि उन प्रान्तों में, जहाँ हिन्दी नहीं बोली जाती, प्रान्तिक भाषाओं की प्रचलित शब्दावली का मूल संस्कृत भाषा ही है, और उनमें—विशेषकर बँगला, मराठी और गुजराती में—संस्कृत-शब्द बहुतायत से पाये जाते हैं। दक्खिन की भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों की ख़ासी भरमार है। ऐसी अवस्था में संस्कृत-शब्दों को हिन्दी से बहिष्कृत करना और उनके स्थान पर फ़ारसी अथवा अरबी के शब्दों का व्यवहृत होना हिन्दी और उर्दू को मिला तो सकता है; पर इन प्रान्तों में हिन्दी के प्रचार-कार्य को दुष्कर बना देता है। हमें हिन्दी को ऐसा रूप देना होगा कि वह उर्दू से भिन्न न होकर भी इन प्रान्तों में सहज ही स्वीकृत हो जाय। इसके लिए हिन्दी के शब्द-भण्डार को संकुचित करना हानिकर होगा। जो फ़ारसी और अरबी के सुबोध शब्द प्रचलित हो गए हैं, उनको निकालकर उनके स्थान पर लम्बे-लम्बे कठिन और क्लिष्ट अप्रचलित संस्कृत-शब्दों को बैठाना बुद्धि-मानी नहीं। साथ ही, जहाँ नये शब्दों के गढ़ने की आवश्यकता हो—जैसी वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के लिए प्रायः हुआ करती है—वहाँ हिन्दी, संस्कृत के अगाध भण्डार से ही सहायता ले सकती है। जीती-जागती भाषा का प्रधान लक्षण है कि अन्य भाषा के शब्दों को वह इस प्रकार अपना लेती है कि वे भिन्न रह नहीं जाते हैं। हिन्दी के विद्वानों का, और विशेषकर इस सार्वदेशिक सम्मेलन का, इन बातों पर ध्यान रखते हुए, यह उद्देश्य होना चाहिए कि हिन्दी की शब्दावली को न तो संकुचित होने दें और न उसमें ऊटपटाँग विदेशी शब्दों का समावेश ही होने दें। यह भी कहना अनुचित न होगा कि ग्रन्थ, निबन्ध अथवा समाचार-पत्रों के लेखों की भाषा में विभिन्नता रहती है और रहनी चाहिए। जो भाषा साग-सत्तू और नमक-मसाला ख़रीदते समय बाज़ारों में बोली जाती है, वह विद्वन्मण्डली की साहित्यिक चर्चा में व्यवहृत नहीं हो सकती। जो भाषा दैनिक समाचार-पत्रों के चुटकुलों के लिए काम में लाई जाती है, वह दार्शनिक विवेचना के लिए कदापि उपयुक्त नहीं हो सकती। इस प्रकार, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता की हिन्दी श्रीयुत महेशचरण सिंह के रसायन-शास्त्र के लिए काम की नहीं हो सकती। भाषा की कठिनता, सरलता, शब्दावली और कुछ अंशों में शैली भी विषय की गम्भीरता तथा श्रोतृ-वर्ग और जिज्ञासुओं की योग्यता पर निर्भर है।

अन्य भाषा-भाषियों के लिए हिन्दी-भाषा का व्याकरण कुछ कठिनाई उपस्थित

करता है। उनके लिए सबसे कठिन समस्या लिङ्गानुशासन की होती है। हिन्दी-व्याकरण में अभी तक कोई नियम दृढ़ रूप से इस विषय में स्थिर नहीं हुआ। अभी हो भी नहीं सकता है। जिस राजा का बहुमूल्य समय लड़ाई के मैदान मे बीत रहा हो, जिसे रात-दिन देश पर विजय करने की ही चिन्ता रहती हो वह राजा अपने राज्य की प्रजा का अनुशासन सुश्रृङ्खलित रूप से नहीं कर सकता, वही हाल अभी हिन्दी का है। इसे अभी अपनी विरोधिनी भाषाओं का—उन भाषाओं का जो उसके अग्रसर होने में रुकावट डाल रही है—मुक़ाबला करना है, अभी हिन्दी को कई प्रान्तों में अपना सिक्का जमाना है, अभी उसे अपने प्रबल शत्रु रूप बद्ध—मूल अँगरेज़ी भाषा रूपी वृक्ष का मूलोच्छेद करना है। ऐसी दशा में हिन्दी के हितैषियों का यह प्रधान कर्तव्य है कि वे उसके व्याकरण की बागडोर ढीली कर दें और विजय-पथ में उसे तेज़ी के साथ आगे बढ़ने दें। हिन्दी में अपवादों की संख्या बहुत है। एक ही शब्द संस्कृत में यदि पुल्लिङ्ग है तो हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग है, और यदि संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है तो हिन्दी में पुल्लिङ्ग। इसी प्रकार, हिन्दी और उर्दू में भी, ऐसे शब्द मौजूद हैं, जो दो लिपियों में लिखे जाने के कारण लिङ्ग बदला करते हैं। ख़ास उर्दू में भी एक ही शब्द किसी प्रदेश मे स्त्रीलिङ्ग है और किसी में पुल्लिङ्ग। अँगरेज़ी भाषा के कतिपय शब्दों का—जिन्हें हिन्दी के लेखकों ने अपनाना आरम्भ कर दिया है—किसी नियम से लिङ्ग निर्धारित नहीं होता और नौसिखियों को अटकल से ही काम लेना पड़ता है। इस लिङ्ग-भेद के कारण क्रिया और विशेषण में भेद हुआ करता है; पर आजकल संस्कृत से लिये गए शब्दों में कहीं-कहीं इस भेद का दिखलाना और शुद्ध-व्याकरण के अनुसार लिखना, लेख को कटु और कर्कश बनाने के सिवा और कुछ लाभ नहीं पहुँचाता। इस विषय में भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कहीं विशेषण और विशेष्य के लिङ्ग में समता रहती है और कहीं नहीं रहती। यह विषय अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से सम्मति देने का अधिकार नहीं रखता यह विद्वानों के लिए विचारणीय विषय है पर यदि अन्य भाषा-भाषियों की ओर से मैं कुछ कहने का अधिकार रखता हूँ तो मैं यह कहूँगा कि आप यदि इस भेद को एक बार दूर न भी कर सकें, तो जहाँ तक हो सके, इसकी कठिनाइयों को दूर करके अन्य प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का रास्ता सुगम बनाने का प्रयत्न अवश्य करें। जो भिन्न भाषा-भाषी आपकी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर उसके सामने अपना मस्तक झुकाने को तैयार हैं, उनको अपने में मिलाने के लिए, अपनी मातृ-भाषा के प्रेम से उनके हृदय को भर देने के लिए, और साथ ही मातृ-भूमि की सेवा-वेदी की ओर एक साथ मिलकर बढ़ने के लिए क्या आप इतना भी नहीं करेंगे?

हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाकर समस्त भारत-

वर्ष में इसका प्रचार करना हमारा कर्त्तव्य है। प्रचार के काम में कितने ही साधनों से सहायता मिलती है। मद्रास-प्रदेश में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से और वहाँ की जनता की सहायता से, जो प्रचार का काम-काज हुआ है वह वास्तव में सराहनीय है। इस प्रयत्न के फल को देखकर साहस तथा उत्साह बढ़ता है और दृढ़ आशा होती है कि यह काम इतना दुस्तर नहीं है कि हम इससे डरकर चुपचाप बैठ रहें। भारतवर्ष में सार्वदेशिक कामों के लिए भाषा प्रचारित करने का यह पहला प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। आज एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। रेल के द्वारा हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दो-तीन दिनों के अन्दर मनुष्य पहुँच सकता है और बहुतेरे इस सुविधा से लाभ भी उठाते हैं। आज तीर्थ-स्थानों में यात्रियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सभा-संस्थाओं के द्वारा एक प्रान्त के रहने वाले दूसरे प्रान्तों में प्रायः आने-जाने का अवसर पाते हैं। छापेखाने के कारण पुस्तकें सस्ती और बहुतायत से छपती और बिकती हैं। समाचार-पत्र सभी स्थानों पर पहुँच रहे हैं। इन सब सुविधाओं के रहते हुए हिन्दी का प्रचार असम्भव नहीं जान पड़ता। ऐसे समय जब रेल न थी, एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में बहुत समय लगता था, जब छापाखाने न होने के कारण केवल हस्त-लिखित पुस्तकें हुआ करती थीं और जब समाचार-पत्र गाँव-गाँव में दुनिया की झूठी-सच्ची खबरें नहीं पहुँचाते थे, तब भी भारतवर्ष ने सार्वदेशिक कामों के लिए इस भाषा के सवाल को हल किया था और संस्कृत सर्वव्यापी भाषा होकर भारतवर्ष-भर के विद्वानों की ऐसी भाषा बन गई थी कि कोई भी प्रान्त ऐसा न होगा जहाँ के रहने वाले उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्न उस भाषा में रचकर छोड़ न गए हों। इतना ही नहीं, यह भी विचार करने की बात है कि जब श्रीजगद्गुरु शंकर का अवतार हुआ, तब उन्होंने बहुत थोड़े समय में उसी भाषा द्वारा समस्त भारतवर्ष को आन्दोलित करके दिग्विजय भी कर ली। आज भी यदि कोई ऐसी भारतीय भाषा है जिसका आश्रय लेकर सारे भारतवर्ष की विद्वन्मण्डली में आप अपने विचारों को प्रकाशित कर सकते हैं, तो वह भाषा संस्कृत ही है, जब ये उदाहरण हमारे सामने उपस्थित हैं, तो फिर क्यों हमारे हृदय में शंका और सन्देह का संचार होता है? यहाँ तो संकल्प-मात्र का विलम्ब है—हिन्दी के प्रचार में विलम्ब होने का तो कोई कारण ही नहीं।

हिन्दी की उन्नति और प्रचार कई प्रकार से हो सकते हैं। जहाँ के रहने वाले इसे समझ और बोल सकते हैं, वहाँ के लोगों में इसके साहित्य के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे स्थानों में उत्तमोत्तम ग्रन्थों का संग्रह करके पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किये जायँ। हिन्दी-साहित्य के प्रेमियों को विविध रूप से पुरस्कृत किया जाय। अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के लेखकों

को तथा कवियों को प्रोत्साहन दिया जाय। उत्तमोत्तम ग्रन्थों को छापकर सस्ते मूल्य पर बेचने का प्रबन्ध हो। ऐसी मण्डलियाँ और संस्थाएँ स्थापित की जायँ जो सचाई और सहृदयता के साथ तथा निष्पक्ष भाव से नये-नये ग्रंथों की समालोचना किया करें। पुस्तक-लेखकों को उनकी पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता दी जाय। अन्य भाषाओं के—चाहे वह देशी हो, या विदेशी—उत्तमोत्तम ग्रन्थों का उल्था किया जाय। नाटक-मण्डलियाँ अच्छे-अच्छे नाटक खेलकर लोगों में हिन्दी की ओर रुचि पैदा करें। अच्छे-अच्छे विद्वानों द्वारा सम्पादित और सिद्धान्तों को प्रचारित करने वाली पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हों। मन्दिरों तथा देवालयों में हिन्दी-ग्रन्थों के—विशेषकर धार्मिक ग्रन्थों के—पठन-पाठन का सर्वत्र प्रबन्ध किया जाय। जितनी सार्वजनिक संस्थाएँ हैं, उनमें हिन्दी द्वारा ही सब काम किये जायँ। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, वकील-मुख्तार, शिक्षक-विद्यार्थी, सभी अपने-अपने दफ्तरों तथा घरेलू कामों में हिन्दी का ही व्यवहार करें। इन उपायों के अतिरिक्त सब श्रेणी के विद्यालयों में हिन्दी, हिन्दी-साहित्य और हिन्दी द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा दी जाय। इस समय के विश्व-विद्यालयों और विद्या पर हिन्दी-साहित्य को उन्नत और प्रशस्त बनाने का भार होना चाहिए। हर्ष का विषय है कि सरकारी विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषा और उसके साहित्य की वृद्धि के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। कलकत्ता में इस प्रशंसनीय प्रयत्न का श्रीगणेश हुआ है। पर बड़े दुःख और लज्जा की बात है कि समस्त उत्तरीय भारतवर्ष की भाषा होने पर और भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक जनता द्वारा व्यवहृत होने पर भी आज तक किसी विश्वविद्यालय ने हिन्दी-साहित्य को वह स्थान नहीं दिया है, जो अन्य देशीय भाषा के साहित्य को प्राप्त है। हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया गया, पर जहाँ तक मुझे मालूम है, कहीं वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य की ओर से यदि हमारे देश के विश्व-विद्यालय उदासीन रहेंगे, और देश का राज्य-कार्य विदेशी भाषा में होता रहेगा तो देशी भाषा और साहित्य में—उसकी उपयोगिता और महत्ता के कारण अथवा लाभ के कारण—न तो विद्वानों और न जनता को श्रद्धा अथवा प्रेम हो सकता है।

साहित्योन्नति के लिए प्रतिभाशाली लेखकों के अतिरिक्त दो में एक बात का होना आवश्यक है, या तो जनता में इतनी श्रद्धा उसके प्रति उत्पन्न हो गई हो कि वह उसके निमित्त बहुत-कुछ त्याग करने को तैयार रहे और अपनी भाषा की उपेक्षा न करे अथवा राजा का उसके साथ इतना प्रेम हो कि वह उसके लेखकों को अपनी सहानुभूति और द्रव्य से प्रोत्साहित करता रहे। दुःख की बात है कि देश की सत्ता अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए और स्वदेशी भाव को दबाए रखने के लिए देशी भाषा को प्रोत्साहित नहीं कर सकती। उसे यह भी कठिनाई होती है कि उसे अपने देश के नवयुवकों को

इस देश में लाकर ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त करना अभीष्ट रहता है और यदि उसकी इच्छा भी हो कि देशी भाषा की उन्नति और प्रचार किया जाय, तो वह अपने देश के नवयुवक पदाधिकारियों के ख़्याल से अपने दफ़्तर के काम मे अपनी भाषा को हटाकर दूसरी भाषा को स्थान नहीं दे सकती। यही कारण है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में आज हिन्दी को स्थान नहीं—देशी भाषाओं का सम्मान नहीं। हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि विदेशी राज्य से हमें यह आशा करने का अधिकार नहीं कि वह कोई भी ऐसा काम कर सकता है, जो उसकी राज-सत्ता पर किसी प्रकार आघात कर सके। इसलिए यदि हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य द्वारा हम देश का कलेवर बदलना चाहते हैं, यदि उसके बिखरे हुए जन-समूह को एक भाषा की एकता के बंधन में बाँधकर स्वराज्य-प्राप्ति की ओर उसके साहित्य द्वारा उसे उद्बोधित और उत्तेजित करना चाहते है, तो इस विषय में हमें राज्य-संस्था से फलवती सहायता नहीं मिल सकती। हमारे हाथों में है—हमारा अपना उत्साह, परिश्रम, संकल्प और त्याग। अन्य देशों की पद-दलित जनता ने अपने उत्साह, संकल्प और त्याग से अनहोनी बातों को कर दिखाया है। क्या हम इतने पतित हो गए हैं कि अब उठने की आशा नहीं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। हम उठेंगे, खड़े होंगे, जननी का उद्धार करेंगे और सच्चे सपूत कहलायेंगे।

जिन प्रान्तों में हिन्दी नहीं बोली जाती, वे दो प्रकार के हैं। एक तो वे, जहाँ की भाषा हिन्दी से मिलती-जुलती है। जैसे बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि और दूसरे वे, जहाँ की भाषा हिन्दी से एकबारगी अलग है, जैसे तेलुगु, तामिल इत्यादि। इन दोनों प्रकार के भारत-निवासियों के अतिरिक्त एक बड़ा समूह उनका है, जिनकी भाषा अनार्य है—जिनकी भाषा में कोई साहित्य नहीं और जिनकी भाषा की कोई लिपि भी नहीं। यह उन आदिम निवासियों की जमात है, जो भारत के जंगली हिस्सों में विशेषकर बसते हैं। हिन्दी-भाषियों का धर्म है कि इन तीनों प्रकार के भारतवासियों के बीच हिन्दी का प्रचार करें। इसके लिए उत्साही प्रचारकों की आवश्यकता है और उनके भरण-पोषण तथा अन्य ख़र्च के लिए प्रचुर द्रव्य की। जहाँ के लोगों ने इस राष्ट्रीय कार्य की महत्ता और उपयोगिता को हृदयङ्गम कर लिया है, वहाँ की जनता ने अपने उत्साही नवयुवकों को इस काम में लगाकर अपने देश-प्रेम का परिचय दिया है; पर जहाँ अभी लोगों ने हिन्दी को अपनाने का विचार निश्चित रूप से नहीं किया है वहाँ कार्यकर्ता और द्रव्य दोनों का ही अभाव है। मैं चाहता हूँ कि जिस प्रकार आज पाठशालाएँ मद्रास प्रान्त में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा स्थापित होकर हिन्दी-प्रचार का काम बड़ी सुगमता और शीघ्रता के साथ कर रही हैं, उसी प्रकार उन प्रान्तों में भी जहाँ इस प्रकार का प्रबंध नहीं किया गया है, शीघ्र ही किया

जाय। आदिम निवासियों के प्रति हमारा कर्त्तव्य है, कि हम उन्हें अपनायें—उनकी रीति-नीति, धर्म इत्यादि को समझने की चेष्टा करें और उनमें शिक्षा का प्रचार करें। अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी सिखाने के लिए सरल-सरल पुस्तकें लिखी जायँ और जैसा सम्मेलन के प्रचारकों ने किया है, करें। एक ऐसे कोष की भी आवश्यकता पग-पग पर जान पड़ती है, जब हम हिन्दी के शब्दों के अर्थ को अन्य भाषा-भाषियों को नहीं बता सकते अथवा अन्य भाषा के शब्दों के अर्थ को हिन्दी-भाषी नहीं समझ सकते।

हमें राष्ट्रीयता का निर्माण और देश में एकता का संस्थापन करने के लिए एक भाषा की नितान्त आवश्यकता दीखती है। देश का उद्धार इसी राष्ट्रीयता और एकता पर निर्भर है। किसी देश का उत्थान तब तक नहीं हो सकता, जब तक वहाँ की जनता में उच्च विचार, उच्च आकांक्षा, उच्च अभिलाषा और सच्चा उत्साह न हो। इनका सूत्र-पात साहित्य द्वारा ही हो सकता है; इसलिए साहित्य को सर्वाङ्ग सुन्दर और उच्चकोटि का बनाना हमारा परम कर्तव्य है। देश तथा जाति के साथ प्रेम और ईश्वर के प्रति भक्ति—यही हमारे भावी साहित्य के वांछनीय लक्षण होने चाहिएँ। उसमें संकीर्णता और असहिष्णुता का समावेश नहीं होना चाहिए। वह किसी एक विशेष क्षेत्र में ही अपने को परिबद्ध न कर लेवे बल्कि उसके आदर्श उच्च हों, उसका क्षेत्र विस्तृत हो, उसके विषय व्यापक हों और उसकी भाषा ओज तथा माधुर्य से समलंकृत हो।

किसी भी आदरणीय कार्य को मनुष्य बिना त्याग के नहीं कर सकता। प्रकृति बिना त्याग के फल नहीं देती—बत्ती अपने को भस्म करके ही आलोक प्रदान करती है—बीज अपने को नष्ट करके दूसरों को फल दे सकता है। त्याग का फल बराबर हाथों-हाथ नहीं मिलता, उसके लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है! आम की गुठली आज नष्ट होती है, पर उसका फल कितने वर्षों के बाद औरों को मिलता है। बीज गेहूँ के खेतों में फेंक देना पड़ता है—मिट्टी में मिला देना पड़ता है, तब महीनों के बाद उसका फल निकलता है। कभी बीच ही में, पानी और पाला, परिश्रम तथा बीज दोनों को ही, विनष्ट कर देते हैं तो भी क्या समझदार और अनुभवी गृहस्थ धैर्य छोड़ देता है? नहीं। वह फिर भी बीज छींटता है। हमें भी इसी प्रकार धैर्य रखकर, आशा और विश्वास रखकर इस राष्ट्रीय कार्य को करना होगा।

क्या देश में, इस प्रान्त में हिन्दी-भाषियों में ऐसे त्यागी तपस्वी नहीं मिलेंगे जो हिन्दी-प्रचार के लिए अपने जीवन को अर्पित कर दें? मैं तो देखता हूँ कि सुदूर से आये हुए विदेशी पादरी हजारों कष्टों को झेलकर जंगलों और पहाड़ों में अपने

धर्म के नाम पर मर मिटने को तैयार रहते हैं और अपने प्राण को हथेली पर लिये अपने धर्म का प्रचार और अपने देश का हित-साधन करते रहते हैं। भारत को आज सच्चे प्रचारकों की आवश्यकता है, जो धर्म का प्रचार और देश का उद्धार अपना ध्येय बनाकर मर मिटने को तैयार हों। हिन्दी के सौभाग्यवश आज इस भाव के भी उदय के चिह्न दीख पड़ते हैं। जब हम यह देखते हैं कि हमारे देश के नवयुवक हिन्दी-प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न प्रान्तों से मद्रास प्रान्त में आते हैं और इस शुभ कार्य में लगे हुए पं० प्रतापनारायण वाजपेयी की तरह अपना कर्तव्य-पालन करते हुए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रकोप का शिकार होकर कारागार में काल के कवल बन जाते हैं, पर अपने धर्म से विचलित नहीं होते, तब मेरा हृदय एक विलक्षण और स्वर्गिक भाव से परिपूर्ण हो जाता है, जिससे देश के उत्थान में बाधाओं की आशंका दूर हो जाती है, और वर्तमान चेष्टा और परिश्रम की सफलता में विश्वास दृढ़ हो जाता है।

हमें इस महान उद्देश्य को समझ लेना चाहिए। यदि हम भारत में एकता स्थापित करके स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो वह इसलिए नहीं कि पश्चिमीय जातियों की तरह हम दूसरों पर अपना अधिकार अथवा वाणिज्य का सिक्का जमायें—वह इसलिए नहीं कि हम दूसरों को निगलने में प्रौढ़ता प्राप्त करें; प्रत्युत हम इसलिए स्वराज्य चाहते हैं कि हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतवर्ष तथा अन्य देशों का कल्याण इसी में है। आइए! हिन्दी-प्रेमियो! इस महान् कार्य में हाथ बटाइए, ईश्वर से सच्चे हृदय से प्रार्थना कीजिए कि वह आपके हाथों में, मस्तिष्क में, हृदय में इतनी शक्ति और बल दे कि जिससे यह कार्य आपके द्वारा, आपकी संतान के द्वारा, इस देश की नव जागरित जनता के द्वारा, सम्पादित हो।

(सन् १६२३ ई०)

२

हिन्दी और उर्दू की एकरूपता[1]

आज श्रीयुत पं० राधाकृष्ण झा की अनुपस्थिति बहुत खटक रही है। जिस स्थान पर मै बैठाया गया हूँ, वह उनका ही था; पर अस्वस्थता के कारण उन्हें पहाड़ जाना पड़ा, और इस स्थान पर मेरे बैठने की ज़रूरत समझी गई। हिन्दी की जो सेवा झा जी ने की है, वह हिन्दी जानने और पढ़ने वाले बिहारियों से छिपी नहीं है। उनको सभापति मनोनीत करके आपने सच्ची गुणग्राहकता दिखलाई। घटना-चक्र से यद्यपि वे आज यहाँ नहीं है, तथापि मै जानता हूँ कि हिन्दी और इस सम्मेलन के साथ उनका इतना गहरा प्रेम है कि रोग-शय्या पर पड़े रहने पर भी सम्मेलन की सफलता की कामना उनके हृदय मे अवश्य वर्तमान होगी। आप सबकी ओर से मै ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वे शीघ्र स्वस्थ हो जायँ, और इस सम्मेलन तथा हिन्दी की जो सेवा वे करते आए है, उसे और भी उत्साह के साथ करें।

इस अवसर पर आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके सभापति बनना मेरा कर्तव्य-सा हो गया था। मै आपको इस कृपा के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ। इस सूबे मे हिन्दी-भाषा, हिन्दी-साहित्य और नागरी-लिपि के सम्बन्ध में, हमारे मुसलमानों की निष्पक्ष विवेचना के लिए, अपने विचार प्रकट करने का जो सुअवसर आपने दिया है, इसके लिए मैं आपका और भी आभारी हूँ।

सबसे पहले मुझे उन साहित्य-सेवियों के शोक-जनक वियोग पर दुःख प्रकट करना है, जो सम्मेलन के गत अधिवेशन के बाद स्वर्गवासी हुए है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन, वयोवृद्ध, हिन्दी-संसार के सुपरिचित 'श्री कवि' पं० विजयानन्द त्रिपाठी अपनी जीवन-व्यापी दीर्घ हिन्दी-सेवा से हिन्दी-संसार—विशेषकर बिहार प्रान्त को तृप्त और ऋणी करके आज हमें दुःख और शोक में छोड़ चल बसे। उनके परलोक-गमन से बिहार-प्रान्त को जो क्षति पहुंची है उसका पूरा होना कठिन है। पाण्डेय जगन्नाथप्रसाद एम. ए. बी. एल., काव्यतीर्थ, दर्शन-केशरी, संस्कृत और हिन्दी के प्रगाढ़ विद्वान् थे जिनसे बहुत-कुछ आशा की जा सकती थी। उनके विषय मे मेरी ज़बान बन्द है, क्योंकि उनके साथ—सहपाठी होने के अतिरिक्त—आपस का घनिष्ठ सम्बन्ध था। मै यह नहीं समझ सकता कि उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा करूँ

---

१. सप्तम बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दरभंगा, सन् १९२९

या उनके हिन्दी-प्रेम और देश-प्रेम का गुण गाऊँ।

उनके एकाएक स्वर्गवास से हमारे राष्ट्रीय विद्यापीठ, साहित्य-सम्मेलन और विद्याप्रचारिणी, सभी संस्थाओं को बहुत बड़ी हानि पहुँची है। बाबू नागेश्वरप्रसाद शर्मा के साथ मेरा भाई-भाई का सम्बन्ध था, और जिस उत्साह तथा त्याग के साथ उन्होंने 'तरुण भारत' को निकाला और चलाया वह प्रशंसनीय है। वे एक वीर देश-सेवक थे, जिनकी मृत्यु वीरों की तरह आज के अहिंसात्मक युद्ध की रण-भूमि में हुई।

ऐसे उत्साही युवा वीर की अकाल-मृत्यु से बिहार को बहुत धक्का पहुँचा है। सूबे के बाहर के भी दो-एक विशेष सज्जनों का नामोल्लेख आवश्यक है, जिनका प्रभाव देश-व्यापी था। पं० राधाचरण गोस्वामी और पं० माधवराव सप्रे के स्वर्गारोहण से हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-संसार को कितनी हानि पहुँची है, यह आप सभी समझते हैं। मैं उसको दोहराकर आपका समय नहीं लेना चाहता। ईश्वर इन सबकी आत्माओं को सद्गति और इनके परिवारों को अपने दुस्सह दुःख के सहने की शक्ति दे।

आज देश और काल की परिस्थिति बड़ी नाजुक है। जो राष्ट्रीयता की लहर आज से पाँच बरस पहले उठी थी, वह इस देश के प्रगाढ़ जनता-रूपी समुद्र में लीन हो गई, और उस लहर के ऊपर फेंके हुए कूड़े-करकट निकल आए। मेरा विश्वास है कि बहुत अंशों में यह सार्वजनिक जीवन के ऊपरी अंश पर ही अपना आवरण डाले हुए है, पर सम्भव है कि कहीं-कहीं यह गहराई के अन्दर भी प्रवेश कर गया हो। पर चाहे यह ऊपर-ही-ऊपर हो, या कुछ दूर भीतर भी प्रविष्ट हो गया हो, यह देखने में गन्दा ही मालूम पड़ता है। जहाँ देखिए, आपस के झगड़े ही दीख पड़ेंगे, जो धीरे-धीरे बढ़कर ऊधम और बलवे का रूप धारण कर रहे हैं। सभी देश-हित-चिन्तकों के दिल दहल रहे हैं। सन्देह और अविश्वास ने बहुतेरे हृदयों में घर कर लिया है, और विस्तार इतना बढ़ता जा रहा है कि जान पड़ता है, न कोई मनुष्य, न कोई विषय और न कोई कार्य-क्षेत्र ही इनके प्रभाव से बाहर रह सकता है। यही कारण है कि हमारा यह सूबा भी—जहाँ के लोग इसका गौरव किया करते थे कि वे आपस में मेल रखते हैं—आज इस द्वेष और अविश्वास का शिकार बनता जा रहा है। हिन्दी-भाषा हिन्दी-साहित्य और देवनागरी-लिपि के सम्बन्ध में भी इस सूबे के कुछ मुसलमान भाइयों के दिल में शक-शुबहे होने लगे हैं। जब मैं यह सुनता हूँ कि हिन्दू और हिन्दी-साहित्य-सेवियों के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि उन लोगों का यह प्रयत्न है कि इस्लामी सभ्यता देश से उठा दी जाय, और इस्लामी सभ्यता का सूचक और द्योतक इस देश में इस समय उर्दू-साहित्य और फ़ारसी-लिपि है, तो मुझे दुःख और आश्चर्य दोनों होते हैं। मैं यह जानता हूँ और हिन्दू की हैसियत से यह कह

सकता हूँ कि यह प्रयत्न मानसिक विडम्बना-मात्र है, जिसका अस्तित्व नहीं है। यद्यपि आज हिन्दी और उर्दू की शब्दावली में अन्तर पड़ गया है, और दिन-दिन यह अन्तर बढ़ता ही जा रहा है, तो भी मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उर्दू इस्लामी सभ्यता की या केवल मुसलमानों की सम्पत्ति है, और उसके साथ हिन्दुओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह मैं यह भी नहीं स्वीकार कर सकता कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की सम्पत्ति है, जिस पर मुसलमानों का कोई अधिकार नहीं है। हिन्दी और उर्दू दोनों के साहित्य इसके प्रमाण हैं कि राजनीतिक हिन्दू और मुसलमान चाहे जो झगड़े खड़ा करना चाहें, पर साहित्य और साहित्य-सेवियों ने धर्म और जाति की कोई क़ैद कभी नहीं मानी, और यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो हिन्दी और उर्दू में कोई झगड़ने की बात नहीं है।

हिन्दी और उर्दू एक हैं

हमारी भाषा, चाहे उसे उर्दू कहिए चाहे हिन्दी, बहुत दिनों से हमारे काम में आ रही है। मैं इसकी उत्पत्ति और विकास का इतिहास देकर समय बरबाद करने की कोई ज़रूरत नहीं समझता, क्योंकि इस विषय में बहुत से विद्वान् अपनी लेखनी उठा चुके हैं, और अपने विचारों को सबके सामने उपस्थित कर चुके हैं, जिनसे आप-जैसे महानुभाव अच्छी तरह परिचित हैं। इस विषय में कुछ कहना मैं अपने लिए एक तरह की अनधिकार चेष्टा भी समझता हूँ, क्योंकि मैं इस विषय का पण्डित नहीं हूँ। पर उपर्युक्त विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों के मनन करने पर जो नतीजा निकलता है, और जिसमें इन विद्वानों के हज़ार मतभेद रहने पर भी मतैक्य है, वह मैं आप लोगों से निवेदन कर देना चाहता हूँ। संक्षेप में वह यह है कि हिन्दी और उर्दू चाहे उनकी उत्पत्ति और विकास जिस क्रम और रीति से हुआ हो—दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं। इसका अकाट्य प्रमाण जिसे मुसलमान लोग उर्दू भाषा कहते हैं उसका पुराना रूप है। उर्दू के बड़े-से-बड़े हिमायती यह कह सकते हैं कि उर्दू की पैदाइश हिन्दुस्तान में मुसलमानी बादशाहत क़ायम होने पर हुई है। अब उस समय के लेखकों की भाषा पर ग़ौर करें, बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं। मुसलमानी राज्य स्थापित होने के सैकड़ों बरस बाद के मशहूर लेखक 'अमीर ख़ुसरो' की कविताओं को लीजिए और विचार कीजिए कि उनकी भाषा आज की खड़ी बोली से किस प्रकार भिन्न है। अमीर ख़ुसरो ने अनपढ़ बी चम्मों के लिए यह कविता लिखी थी:

औरों की चौपहरी बाजे, चम्मों की अठपहरी।
बाहर के कोई आये नाहीं, आये सारे शहरी॥

इस उदाहरण को देखने से पता लगेगा कि आज की हिन्दी और उस समय की कही जाने वाली उर्दू में बहुत भेद नहीं है। इससे यह भी मालूम

पड़ता है कि हिन्दी का वर्तमान रूप, अमीर खुसरो के बहुत पहले ही, इस साँचे में ढल चुका था। सच बात तो यह है कि मुसलमानी राज्य स्थापित होने के सैकड़ों वर्ष पहले ही विदेशों की आवाजाई और कारोबार की भाषा हिन्दी बन रही थी और उसमें सैकड़ों विदेशी शब्द आ गए थे। हिन्दी के आदि प्राप्य ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी और फारसी के शब्द पाये जाते हैं। इसलिए यह कह देना कि कुछ अरबी-फ़ारसी शब्दों की मिलावट से ही एक नई और स्वतन्त्र भाषा पैदा हो गई, ठीक नहीं मालूम पड़ता।

शमसुल उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब 'आजाद' ने अपने 'आबेहयात' में लिखा है कि "इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी उर्दू जबान व्रजभाषा से निकली है और व्रजभाषा खास हिन्दुस्तानी जबान है।" मौलाना आज़ाद और उनके-से विचार वाले विद्वान् उर्दू का 'व्रजभाषा' से निकलना या 'बागड़ू' से ही जो निकलना कहते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। आप एक ही व्यक्ति को भिन्न प्रकार के कपड़े पहनाकर यह नहीं कह सकते कि वह व्यक्ति पहले वाले से बना है। पं० रतननाथ सरशार उर्दू के एक भारी लेखक हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फ़साना-ए-आज़ाद' से मैं यह अवतरण देता हूँ :

"मेरी प्यारी बहनो! बहुत दिनों से मेरा जी चाहता है कि लड़कों को गहना पिन्हाने में जो-जो बुराइयाँ होती हैं वह लिखूँ। सो अब लिखती हूँ। जी चाहे तो जी लगा के पढ़ो और जो पढ़ो उसको सोचो और वह यह है। पहले यह देखना चाहिए कि लड़कों को लोग गहना क्यों पिन्हाते हैं। कोई समझता है कि उसको पिन्हाने से सब लोग हमको रुपये वाला कहेंगे। कोई कहता है कि इससे हमारे लड़के अच्छे और गोरे-चिट्टे दिखाई देंगे। जिनके पास रुपया नहीं है वह इसलिए अपने लड़के-बालों को पिन्हाते हैं कि जो न पिन्हायेंगे तो हमारे भाई और जान-पहचान वाले कंगाल कहेंगे।"

अब कोई उर्दू वाला इस अंश को उर्दू के सिवा और कुछ नहीं कह सकता। साथ ही, हिन्दी वालों से पूछिए कि वे क्या कहते हैं। क्या हिन्दी को छोड़कर यह कोई और भाषा है? जहाँ ग्रन्थ-के-ग्रन्थ ऐसी भाषा में लिखे गए हैं, और लिखे जा सकते हैं कि उर्दू वाला उर्दू कहे और हिन्दी वाला हिन्दी, फिर किस समझदार को ऐसा कहने का साहस हो सकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भाषाएँ हैं, या यह कि उर्दू हिन्दी से निकली है, या हिन्दी उर्दू से निकली है। आना, जाना, खाना, पीना इत्यादि सारी क्रियाएँ; गिनती, बही खाता, हिसाब-किताब के प्रायः सभी शब्द; सब-के-सब सर्वनाम; शब्द रूप और धातु रूप—हिन्दी और उर्दू के—एक ही हैं। अब बतलाइए कि कौन सी संपत्ति रह जाती है जिसके बटवारे से हिन्दी और उर्दू दो भाषाएँ कहला सकती हैं।

बची हुई सम्पत्ति केवल शब्द-ही-शब्द हैं। उन पर भी विचार कर लीजिए। दो प्रकार के शब्द व्यवहार में आते हैं—तद्भव और तत्सम। जिस भाषा से कोई शब्द आया हो, और वह उसी भाषा के रूप में यदि व्यवहार में आये, तो उसे 'तत्सम' कहते हैं। यदि रूप बदल जाय तो 'तद्भव' कहलाता है। पुस्तक तत्सम है और पोथी तद्भव। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो प्रयोग के अनुसार तद्भव और तत्सम दोनों ही होते हैं। हमारी भाषा में अरबी, फ़ारसी, तुरकी, अँगरेज़ी, पुर्तगाली, फिरंगी सभी भाषाओं के शब्द काम में आते हैं। जब ये हमारी पोशाक पहनकर हमारे देश की सम्पत्ति हो गए, तब हम इन्हें विदेशी कहकर अपनी भाषा का अपमान नहीं करेंगे। जिसे हिन्दी कहते हैं, उसमें इस तरह के ही तत्सम और तद्भव शब्द काम में आ रहे हैं, जिनकी शुद्धि सैकड़ों बरस पहले हो चुकी है। हिन्दी वाले नई शुद्धियाँ नहीं कर रहे हैं। जिसे उर्दू कहते हैं, उसमें आज भी बिना आवश्यकता के विदेशी शब्दों को भरते जाते हैं, और दिन-पर-दिन उसे विदेशी करते जाते हैं।

उर्दू के प्रसिद्ध कोश 'फ़रहंगे आसफ़िया' के कुल ५४ हज़ार शब्दों में लगभग ३२ हजार तद्भव हैं, जिनको हिन्दी लिखा गया है। बाक़ी २२ हज़ार के लगभग ऐसे शब्द हैं जो विदेशी भाषाओं से निकले हुए माने जाते हैं। अब शब्द-सम्पत्ति की जाँच कीजिए। फ़रहंग वाले ने स्वयं यह मान लिया है कि जिसे वह उर्दू कहता है उसमें लगभग ३२ हजार जब हिन्दी शब्द है, तो वह भाषा कौन सी हुई और हिन्दी तथा उर्दू में कितना अन्तर रहा ?

उर्दू की बढ़ती हुई जटिलता

मामूली बोल-चाल के काम में अच्छे-से-अच्छे पढ़े-लिखे आदमी हज़ार-बारह सौ से ज्यादा शब्दों का व्यवहार नहीं करते, और यह सब-के-सब हिन्दी ही हैं। ३०-३१ हज़ार शब्द ज़रूर ही इल्मी कामों के लिए काफ़ी हैं। फिर २०-२२ हज़ार नई टकसाल के शब्दों की ज़रूरत क्या है ? बात यह है कि अपनी भाषा का अच्छा ज्ञान न होने के कारण, और दूसरी भाषा की पण्डिताई दिखलाने के लिए जहाँ शब्दों की ज़रूरत हुई, झटपट नये शब्द दाख़िल कर दिए गए। बंगला की नक़ल करने वाले हिन्दी-लेखक और उर्दू के प्रायः सभी लिखने वाले इस बात के दोषी हैं। जिस शैली को उर्दू कहते हैं, आज उसकी यह दशा है कि कुछ बरसों के भीतर इतने शब्द ज़बरदस्ती ठूँस दिए गए हैं कि 'फ़रहंगे आसफ़िया'-जैसी बड़ी लुग़त भी नावाक़फ़ियत ज़ाहिर करती है। यही सिलसिला जारी रहा तो हम ज़बान में जितने विदेशी हो चुके हैं, उससे कहीं ज्यादा विदेशी हो जायँगे, और जिसे उर्दू कहते हैं वह ज़बान हिन्दुस्तानी ज़बान कहलाने लायक़ न रह जायगी।

मौलाना आज़ाद ने सैयद इंशा और मिर्ज़ा जानजाना की बातचीत को उद्धृत

करके अरबी-फ़ारसी से भरी उर्दू की निन्दा की है :

"इब्तदाय सन्ने सबा से ता अवाएले रैयान और अवायल रैयान से ग़लाएल आन इस्तेयाक मालायेताक़ तक़्मीले उलूये आलिया न बहद्दे था के सिल के तहरीर और तक़रीर में मुन्तजम हो सके। लेहाजा वे वास्ता नो वमीला हाजिर हुआ हूं।"

जो बात पच्चीस बरस पहले मौलाना आज़ाद-जैसे सुलेखक के निकट निन्द्य थी, आज उर्दू लिखने वाले आँख मूंदकर उसी रास्ते पर भागे जा रहे हे, और चाहते हैं कि इस तरह एक अलग ही चीज़ बन जाय। उदाहरण के लिए मे यह अवतरण एक अख़बार से, जिसका सर्वसाधारण मे प्रचार अपेक्षित है, देता हूँ :

"नवाब एमादुल मुल्क मरहूम

मुल्क के मशहूर ओ क़ाबिलतरीन और माययेसद एफ़्तख़ार एमादुलमुल्क नवाब सैयद हुसैन बेलग्रामी मरहूम की वफ़ात न सिर्फ़ नदवये दारुल मुसन्नफ़ीन ओ दायरतुल मआरिफ़ के लिए मातम-अंगेज़ है बल्कि हक़ीक़त यह है कि एक ऐसी बा-कमाल ओ जामये हस्ती का मुसलमानों से इस जमान-ए क़हतुल रिजाल में उठ जाना जो मोख्तलिफ़ अलूम व फनून का माहिर हो मशरक़ी ओ मग़रबी जबानों पर काफ़ी दस्तरस रखता हो क़ोमी मुसीबत नहीं तो और क्या है ?"

—'अलमवश्शिर', पटना (ता० २ जुलाई १९२६)

उर्दू के अच्छे लेखक अपनी भाषा को जटिल बनाने के पक्षपाती नहीं हैं। सभी भाषाओं के सुलेखक इस सम्बन्ध में एक ही मत रखते है कि साहित्य की उत्तमता सरलता और प्रसाद गुण में है, और सहल लिखना मुश्किल है, और मुश्किल लिखना सहल है। आजकल अरबी-फ़ारसी के मुल्ला और संस्कृत के पण्डित क़लम उठाते ही अपनी विद्या की झोंक में अरबी-फ़ारसी और संस्कृत की पण्डिताई बघारने लगते हैं। वे यह नहीं समझते कि जिनके लिए वे लिख रहे हैं, वे उसे समझ सकेंगे या नहीं। पर दुर्भाग्य से उर्दू की नाजुक जान आजकल मुल्लाओं की मुट्ठी में है। उन्होंने उसको एक ख़ास बुर्क़ा पहना रखा है कि उसकी असली सूरत नज़र नहीं आती, और उर्दू इस वक्त पर्दे में ऐसी छिप गई है कि कहीं-कहीं 'का, की, है, होता है' आदि अंग के बाहरी आकार का आभास-मात्र दिखाई पड़ता है। ऊपर के उदाहरण इस कथन के पुष्ट प्रमाण हैं। उनमें इस बात का प्रमाण है कि जो पढ़े-लिखे मुसलमान मुल्ला नहीं है, उनके ऊपर मुल्लाओं की ज़बान का ऐसा गहरा रंग चढ़ गया है कि वे भी ऐसी जटिल भाषा लिखने लग गए हैं कि 'फ़रहंग आसफ़िया'–ऐसा बड़े-से-बड़ा कोष भी उनके शब्दों के अर्थ नहीं बता सकता, और मुल्लाओं की भाषा के लिए तो 'फरहंग' बना ही नहीं। अब बतलाइए कि इनकी भाषा समझने के लिए क्या अरबी के कोष खोले जायँ ? फिर अरबी का ऐसा कोई कोष भी हमारे देखने में

नहीं आया, जो उर्दू या हिन्दी मानी बतलाता हो। उर्दू के ऊपर जैसा यह आक्षेप है, वैसा हिन्दी के ऊपर कोई आक्षेप नहीं आ सकता, हालाँकि ५४ हजार शब्दों वाला कोष हिन्दी में अभी नहीं बना है।

हिन्दी जटिल नहीं बनाई जा रही है

हम यह दिखा चुके हैं कि हिन्दी उर्दू में भाषा के नाते रत्ती-भर अन्तर नहीं है। पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि दो लिपियों ने दो भाषाओं के होने का भ्रम डाल रखा है। पंजाब के 'आर्य-गजट' और 'प्रकाश' दोनों उर्दू के पर्चे हैं, पर जिस भाषा में लिखे जाते हैं अगर उसे नागरी पोशाक पहना दें, तो कोई हिन्दी वाला भूलकर भी उसे उर्दू नहीं कहेगा। नवलकिशोर प्रेस की छपी 'योगवाशिष्ठ' पुस्तक दो भारी-भारी जिल्दों में फ़ारसी अक्षरों में है। उसका भी ठीक यही हाल है। हिन्दी के दो प्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की लिखी तीन पुस्तकें 'तिलस्माती मुन्दरी' 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' तथा नवल किशोर प्रेस की छपी हुई बीसों किस्से-कहानी की किताबें हैं, जो नागरी लिपि में छपी हैं। अगर उन्हें फ़ारसी लिपि की पोशाक पहना दी जाय, तो उर्दू वाले उन्हें हिन्दी कभी नहीं कहेंगे। जो कुछ भ्रम का पर्दा है लिपियों की पोशाक ने डाल रखा है। इन्हीं के कारण जो लोग नागरी-अक्षर नहीं जानते, वे हिन्दी को हौआ समझते हैं, और जो फ़ारसी लिपि नहीं जानते, वे उर्दू को मौलवियों की मिल्कियत मानते हैं। यही कारण है कि हिन्दी वाले यह समझते हैं कि उर्दू हमारी चीज नहीं है और उर्दू से हमको कोई मतलब नहीं है। जिन शब्दों को वे उर्दू फ़ारसी और अरबी का समझते हैं, उनको चुन-चुनकर निकालने पर तुल जाते हैं। यह उनकी भारी भूल है। जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते, वे हिन्दी के बदले अरबी और फ़ारसी के शब्द बेकार ठूँसते जाते हैं, और अपना दोष हिन्दी वालों के सिर मढ़ते हैं और कहते हैं कि हिन्दी वाले अपनी भाषा को रोज़-रोज़ मुश्किल-से-मुश्किल बनाते जाते हैं। यहाँ उन्हीं लोगों का भ्रम दूर करना चाहता हूँ।

आइए हम लोग आज से ७०० वर्ष पहले की हिन्दी की कविता का नमूना देखें, और यह मालूम करें कि उस समय में हम कठिन भाषा व्यवहार में लाते थे या आजकल।

सात सौ बरस हुए, दिल्ली में पृथ्वीराज राज करते थे। उनके दरबार के मशहूर कवि 'चन्द' ने महाभारत-सी बड़ी पोथी 'पृथ्वीराज रासो' लिखी। इस पोथी में से नमूने की तरह एक छन्द देता हूँ:

मनहु कला ससि भाम कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस सरिता समीप अमृत रस पिन्निय॥

बिगसि कमल मृग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय ।
हीर कीर अहि बिम्ब मोति नखशिख अहि घुट्टिय ॥
छत्रपति गयन्द हरि हंसगति बिह बनाय संच सचिय ।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय ॥

इस कविता में कला, बाल, समीप, अमृत, रस, कमल, मृग, भ्रमर, खंजन बिम्ब, नख, शिख, अहि, छत्रपति, हरि, हंस, गति, रूप, काम, सांस, कीर संस्कृत के तत्सम शब्द हैं और भान, गयन्द, बैन, कीर आदि शेष तद्भव रूप हैं। यह भी बात ध्यान देने की है कि कला, बाल, अमृत, रस, कमल, मृग, नख, शिख, रूप, काम आदि शुद्ध संस्कृत के शब्द उर्दू की बड़ी लुगत 'फ़रहंग आसफ़िया' में भी पाए जाते हैं। इसमें फ़ारसी और अरबी का एक भी शब्द नहीं है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि 'चन्द' की भाषा में फ़ारसी और अरबी के शब्द थे ही नहीं, क्योंकि कुछ शब्द आकर मिले थे, पर उनका रूप-रंग हिन्दी-सा हो गया था। सजीव भाषाओं का लक्षण है कि वह दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपना रूप-रंग देकर अपना लेती है। उस समय की भाषाओं में भी हुजूर, खालरी, हरामखोर, महल, परवर-दिगार, पगाम (पैगाम), करीम, सुरतान (सुलतान), बातशाह (बादशाह), दीवान, खलक (खलक), आलम, हजरत (हजरत), मुल्क, फरमान (फ़रमान), सरनाम इत्यादि शब्द पाए जाते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि मुसलमानों के समागम से हिन्दू उस समय में भी विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं करते थे, और उसके थोड़े ही दिनों के बाद की लिखी हुई 'खुसरो' की कविता से जान पड़ता है कि मुसलमान हिन्दी को अच्छी तरह अपना चुके थे। उनमें फ़ारसी के कठिन शब्दों के समावेश करने की लत नहीं पड़ी थी, जैसे 'खुसरो' की पहेलियों के चन्द नमूनों से मालूम होगा। इसका कारण शायद यह होगा कि 'खुसरो' जैसा फ़ारसी का आलिम था, हिन्दी का का भी विद्वान् था। 'खालिकबारी' का कोष गवाह है :

(१) खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा ।
हैं बैठा और कहे हैं लोटा ॥
खुसरू कहे समझ का टोटा ।

(२) एक मन्दिर के सहस्र दर । हर दर में तिरिया का घर ।
बीच बीच वाके अमृत ताल । बूझ है इसकी बड़ी महाल ॥

(३) एक नार जाके मुख मास । सो हम देखी बैड़ी जात ।
आधा मानुष निगले रहे । आँखो देखी खुसरू कहे ॥

(४) भाँति भाँति की देखी नारी । नीर भरी है गोरी कारी ।
ऊपर बसै और जग धावे । इच्छा करै जब नीर बहावे ॥

इन उक्तियों से जान पड़ता है कि 'खुसरो' की भाषा और आज की हिन्दी में कोई अन्तर नहीं है। फारसी के शब्द कुछ हैं—जैसे दर, अहाल आदि, पर संस्कृत के शब्दों—जैसे मन्दिर, सहस्र, अमृत, नारि, तोर, भाँति, जग आदि—की संख्या बहुत अधिक है।

इसके बाद ईस्वी पन्द्रहवीं शताब्दी में 'कबीर' और 'विद्यापति' हुए हैं। दोनों में बहुत अन्तर है। 'विद्यापति' संस्कृत-साहित्य के विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। कबीरदास प्रायः अशिक्षित थे; वह बड़े ही अनुभवी और पहुँचे हुए साधु थे, जिन्होंने एक नये पन्थ को ही चला दिया। अब अलग दोनों के उदाहरण लीजिए :

पथ गति नयन मिलल राधा कान।
दुहु मन मनसिज पूरल सधान॥
दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।
समय न बूझए अचतुर चोर॥
विदगधि संगिनि सब रस जान।
कुटिल नयन कएलन्हि समधान॥
चलल राज-पथ दुहु उरझाई।
कह कवि-शेखर दुहु चतुराई॥ (विद्यापति)

इसमें संस्कृत के कितने शब्द हैं, इसका सुनने से ही पता लग जाता है। विद्यापति के पद आज भी मिथिला और बंगाल की स्त्रियाँ गाती और समझती हैं। इनके समकालीन कबीरदास के भी कुछ पद उदाहरण के लिए सुन लीजिए :

जानि बूझि साँची तजे, करे झूठ सों नेहु।
ताकी संगति हे प्रभु, सपनेहु मति देहु॥१॥
कबिरा गर्ब न कीजिए, काल गहे कर केस।
ना जानो कित मारिहै, का घर का परदेस॥२॥
माटी कहे कुम्हार सों, तू क्या रूँदे मोहि।
इक दिन ऐसा होइगा, मैं रूँदूँगी तोहि॥३॥
चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बे-परवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहनसाह॥४॥ (कबीर)

अँगरेजी सोलहवीं शताब्दी के लगभग सूरदास, तुलसीदास, मलिक मुहम्मद जायसी, मीराबाई, रहीम आदि हिन्दी के बड़े-बड़े कवि हो गए हैं, और मैं इनके कुछ पद्य इसलिए उद्धृत कर देना चाहता हूँ कि आप स्वयं विचार कर सकें कि उस समय के हिन्दू और मुसलमान भाषा में भी भेद नहीं कर पाए थे। यद्यपि मुसलमानी राज्य

प्राय तीन-चार सौ बर्ष भारत में रह चुका था तथापि जनता की बोल-चाल की भाषा और जनता में प्रचलित ग्रन्थों की भाषा, चाहे उसके लिखने वाले हिन्दू हों अथवा मुसलमान, एक ही मानो ओर लिखी जाती थी। यह भी विचार करने की बात है कि संस्कृत के शब्दों की संख्या कम नहीं है, और अरबी तथा फारसी के शब्द यद्यपि बहिष्कृत नहीं हैं तथापि उनका वह प्रभाव नहीं है, जो आज की भाषा में देखा जाता है। साथ ही, यह भी साफ है कि जहाँ हिंदी के लिखने वाले संस्कृत-तत्समों की कमी करते गए और नये आने वाले अरबी-फ़ारसी शब्दों को दाखिल करते गए, उर्दू शैली के लिखने वाले भरसक चलते हुए संस्कृत शब्दों को निकालते गए और बिलकुल नये तथा अनगढ़ फ़ारसी-अरबी-शब्दों को घुसाते गए :

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।
देख्यो चाहत कमल नैन को निसदिन रहत उदासी ॥
आये ऊधो फिरि गये आँगन डारि गये गर फाँसी ।
केसरि को तिलक मोतिन की माला वृन्दाबन के बासी ॥
काहू के मन को कोउ न जानत लोगन के मन हाँसी ।
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरस का लाइ करवट ल्यो कासी ॥ (सूरदास)

जनम सिन्धु पुनि बंधु विष दिन मलीन सकलंक ।
सिय-मुख समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक ॥
घटइ बढइ बिरहिनि दुखदाई । ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई ॥
कोक सोकप्रद पंकज-द्रोही । अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही ॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे । होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥
सिय मुख-छबि बिधु-ब्याज बखानी । गुरु पहँ चले निसा बड़ि जानी ॥ (तुलसी)

बसो मेरे नैनन में नंद लाल ।
मोहनी मूरति साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल ॥
अधर-सुधा-रस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल ॥
छुद्रघंटिका कटि-तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल ॥ (मीराबाई)

तुर्की अरबी हिन्दवी, भाषा जेती आहि ।
जाने मारग प्रेम का, सब सराहै ताहि ॥१॥
महमद वृद्ध बैस जो भई । जोबन हुत सो अवस्था गई ॥
बल जो गयौ कै खीन सरीरू । दृष्टि गई नयनहिं दै नीरू ।
दसन गये कै पचा कपोला । बैन गये अनरुच दै बोला ॥

बुधि जो गई पै हिय बोराई । गर्व गये तरहित भिग्नाई ॥ (जायसी)

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख ।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहि राख्यो बीरबर ॥ (अकबर बादशाह)

धूर धरत नित सीस पे, कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूंढत गजराज ॥१॥
रहिमन पुतरी स्याम, मनहु जलज मधुकर लसै ।
कैधौ सालिग्राम, रूपे के अरघा धरे ॥२॥ (रहीम)

हिन्दी की अवस्था प्रायः और सो बरसों तक यही रही, तथा हिन्दी और उर्दू का कोई भेद नहीं था। पद्य-रचना हिन्दी की अपनी शैली पर होती रही, और अब भी होती है। हिन्दी-कविता की भाषा में यद्यपि इधर पच्चीस-तीस बरसों से परिवर्तन हो गया है, और लोग ब्रजभाषा की जगह पर खड़ी बोली में अधिकांश रूप से कविता करने लगे हैं; किन्तु कविता-शैली, भाव-प्रदर्शन और वर्णन-विधि प्रायः वही रही। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि भाषा पहले से अधिक सरल अथवा कठिन संस्कृत-शब्दों से खाली होने लगी है। यहाँ मैं सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से आज तक के ब्रजभाषा और खड़ी बोली के कतिपय प्रसिद्ध कवियों की कविताओं के उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देता हूँ। इन उदाहरणों से यह भी पता लगेगा कि चन्द बरदाई के समय में जहाँ ४८ शब्दों के एक छन्द में छब्बीस शब्द शुद्ध संस्कृत के या उससे तनिक बदलकर व्यवहृत होते थे, वहाँ अब धीरे-धीरे संस्कृत शब्दों की संख्या कम होने लगी है :

यहि आसा अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल ।
ह्वैहै बहुरि बसंत रितु, इन डारन वे फूल ॥ (बिहारी)

जाके न काम न क्रोध विरोध, न लोभ छुवै नहि लाभ को छाँहो ।
मोह न जाहि रहे जग बाहिर, मोल जवाहिर ता अति चाहो ॥
बानी पुनीत त्यों देवधुनी, रस आरद सारद के गुन गाहो ।
सील ससी सविता छविता, कविताहि रचै कवि ताहि सराहौं ॥ (देव)

भाषा ब्रज भाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोय ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होय ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि ।
सहज पारसी हू मिलै, षट् विधि कवित बखानि ॥ (दास)

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥ (रसलीन)

रे मन साहसी साहस राख, सु साहस सों सब जेर फिरैंगे ।
त्यों, 'पदमाकर' या सुख में दुख त्यों दुख में सुख सेर फिरैंगे ॥

वैसे ही बेनु बजावत स्याम सुनाम हमारो हू टेर फिरेंगे ।
एक दिना नहिं एक दिना कबहूँ फिर वे दिन फेर फिरेंगे ।। (पदमाकर)

(क) भई सखि, ये अँखियाँ बिगरैल ।
बिगरि परीं मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल ।।१।।
भई मतवार धरत पग डगमग, नहिं सूझत कुल-गैल ।
तजि के लाज-साज गुरुजन को, हरि की भई रखैल ।।२।।
निज स्वभाव गुनि ओरहु हरखत, करत न कछु मन मैल ।
हरीचंद सब मत छोडिके, करहि रूप की सैल ।।३।।

(ख) डङ्का कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई ।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई ।।
जब चलना ही निहचै है तो ले किन माल लदाई ।
हरीचन्द हरिपद बिनु नहिं तो रहि जैहो मुँह बाई ।। (भारतेन्दु)

सुनिये भारखंड बनवासी दयाशील हे वैरागी ।
करके कृपा बता दे मुझको, कहाँ जले है वह आगी ।।
ये सब भाँति-भाँति के पच्छी, ये सब रंग-रंग के फूल ।
ये बन की लहलही लता नव ललित कलित शोभा के मूल ।।
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौरों की गुञ्ज ।
बड़े सुरीले बोलों से, अनमोल घनी वृक्षों की कुञ्ज । (श्रीधर पाठक)

सब किसान मिलकर अपने खेतों में जाकर,
फूल तोडते सरसो के आनन्द मनाकर ।
बन में होते लडकों के पाले औ दंगल,
चढते ढाकों पर औ फिरते जंगल-जंगल ।। (बालमुकुंद गुप्त)

अति रगड़ करने से चंदन से निकलती आग है ।
क्या न होता जब बिगड़ता देश का शुभ भाग है ।। (विजयानन्द त्रिपाठी)

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ।
लख मुख जिसका मैं आज लौ जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है ।। (हरिऔध)

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अंगारे ।
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे ।।
क्या गम है गर छूट जायँगे साथी सारे ।
बहलावेंगे चित्त चंद्र चमकीले तारे ।।

दुख में भी सुख-शांति का, नव अनुभव हो जायगा ।
प्रेम-सलिल मे द्वेष का, सारा मल धुल जायगा ।। (त्रिशूल)
जैसा कुछ हो सका आपका, यह आज्ञा-पालन है लीजे ।
भारत माता के चरणों में, इसे आप ही अर्पित कीजे ।।१।।
अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे ।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है ।।२।।
यहाँ शहर की बात नही है, अपनी-अपनी घात नहीं है ।
आडम्बर का नाम नही है, अनाचार का काम नही है ।।३।। (मैथिलीशरण गुप्त)
चाह नही है सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ ।
चाह नही प्रेमी-माला मे बिंध प्यारी को ललचाऊँ ।।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि मे डाला जाऊँ ।
चाह नहीं देवों के सर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ ।।
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक ।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक ।। ('एक भारतीय आत्मा')

मुसलमान कवियों ने भी उसी शैली का अनुसरण किया, और यद्यपि फ़ारसी, अरबी और तुरकी के अनेकानेक शब्द आ गए थे; तथापि न तो शब्द-कोष ही हिन्दी और उर्दू का अलग था और न रचना या वाक्य-विन्यास ही ।

उर्दू की शायरी केवल दो सौ बरस हुए कि औरंगजेब के बाद मुहम्मद शाह के समय में ही आरम्भ हुई, और उसके आदि-कवि 'शाह वली अल्लाह' थे जिनका उपनाम था 'वली' । इन्होंने उर्दू-कविता की नींव डाली—भाषा में, पद्य-रचना में, छन्द में और भावों मे भी विदेशीपन घुसाया । इनके पहले मुसलमान-कवि भी यदि कुछ कविता करते थे, तो भाव संस्कृत और हिन्दी कवियों के ही लेते थे । पर छन्द के सम्बन्ध में उनको संस्कृत का बहुत सहारा लेना नहीं पड़ता था । शब्दावली भी, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, फ़ारसी और अरबी से खाली न रहकर भी, विशेषतया हिन्दी थी, जिसका मूल संस्कृत और प्राकृत था । यदि कोई फ़ारसी-अरबी का विद्वान् ऐसी कविता करना चाहता था जो जनता के लिए नहीं पर विशेष विद्वन्मण्डली के लिए हो, तो वह उसे फ़ारसी-भाषा में ही लिखता था । पर 'वली' ने फ़ारसी के छन्दों में हिन्दी लिखना आरम्भ किया, और साथ-ही-साथ फ़ारसी और अरबी के शब्द अधिकाधिक घुसने लगे । भाव भी प्रायः सभी फ़ारसी कवियों से लिये जाते थे । दिल्ली में इनकी कविता लोगों को बहुत पसन्द आई । इनके कुछ छन्द सुनिये :

हूँ गरचे खाकसार वले अज़रहे अदब ।
दामन को तेरे हाथ लगाया नहीं हनोज़ ।।

तुझ लब की सिफ़त लाल बदख्शाँ से कहूँगा ।
जादू हैं तेरे नैन गज़ालाँ से कहूँगा ।।
दी हक़ ने तेरे बादशाही हुस्न नज़र की ।
यह किश्वरे ईराँ में सुलेमाँ से कहूँगा ।।

इससे यह मालूम होगा कि 'वली' ने फ़ारसी छन्द, फ़ारसी शब्दावली, फ़ारसी भाव तथा फ़ारसी एजाफ़ते का पहले-पहल व्यवहार किया । उसी समय से कठिन फ़ारसी शब्द बहुत व्यवहृत होने लगे, और हिन्दी से अलग होकर उर्दू एक नई भाषा का रूप धारण करने लगी । पर हाल में भी उर्दू के कुछ ऐसे कवि हुए हैं, जिनका सहज और सुडौल भाषा पर पूरा-पूरा अधिकार था; पर तो भी अरबी-फ़ारसी-शब्दों से उन्होंने अपनी भाषा को जटिल बना दिया है । उर्दू के कवियों की कुछ कविताएँ उद्धृत करके यहाँ इनके प्रमाण दिये जा सकते हैं :

(क) गादिये जुल्मत में अपनी दख्ल कब है नूर का ।
सहर इक ओला-सा है सो भी चिरागे हूर का ।।१।।
वा-लबे वहशत तलक भी शाख आहू की तरह ।
पेंच खाता है धुआँ मेरे चिरागे गोर का ।।२।।

* * *

(ग) अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जायँगे ।
मर के भी चैन न पाया तो किधर जायँगे ।।१।।
जौक जो मदरसे के बिगड़े हुए हैं मुल्ला ।
उनको मयखाने में ले आओ सँवर जायँगे ।।२।। (जौक़)

(क) एक हंगामे पै मौकूफ़ है घर की रौनक ।
नौह-ए-ग़म ही सही नग़्म-ए शादी न सही ।।
न सितायश की तमन्ना न सिले की परवाह ।
गर नहीं है मेरे अशआर में पानी न सही ।।१।।

* * *

(ख) हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पे दम निकले ।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले ।।१।।
निकलना ख़ुल्द से आदम का सुनते आये हैं लेकिन ।
बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले ।।२।। (ग़ालिब)

(क) बाक़ी जहाँ में क़ैस न फ़रहाद रह गया।
अफ़साना आशिक़ों का फ़क़त याद रह गया।।
पाबन्दियों ने इश्क़ की बेकस रखा मुझे।
मैं सौ असीरियों में भी आबाद रह गया।।

* *

(ख) तुझने बदले हमसे गिन-गिन के लिये।
हमने क्या चाहा था इस दिन के लिए।।१।।
फ़ैसला हो आज मेरा आपका।
यह उठा रखा है किस दिन के लिए।।२।। (दाग)

(क) है कोई अपनी क़ौम का हमदर्द।
नौअ इन्साँ का जिनको समझें फ़र्द।।
जिस पै इतलाक़ आदमी हो सहीह।
जिसको हैवाँ पै दे सकें तरजीह।।
क़ौम पै कोई ज़दन देख सके।
क़ौम का हाले-बंद न देख सके।।
क़ौम से जान तक अज़ीज़ न हो।
क़ौम से बढ़कर कोई चीज़ न हो।।

* *

(ख) नहीं लेते दम एकदम बे-सबब वह।
बहुत जाग लेते हैं सोते हैं तब वह।।
थकते हैं और चैन पाती है दुनिया।
कमाते हैं वह और खाती है दुनिया।।
खपाते हैं कोशिश में ताबोतवा को।
घुलाते हैं मेहनत में जिस्मे रवाँ को।।
समझते नहीं इसमें जो अपनी जाँ को।
वह मर-मरकर के रखते हैं जिन्दा जहाँ को।। (हाली)

(क) तू वजह प अपने क़ायम रह क़ुदरत की मगर तह्क़ीर न कर।
दे पाय नजर को आजादी, खुदबीनी को जंजीर न कर।।
बातिन में उमड़कर जब्ता फ़ुगाँ, ले अपनी नजर में कारे जुबाँ।
दिल जोश में ला फ़रियाद न कर, तासीर दिखा तक़रीर न कर।।

तू ख़ाक में मिल और आग में जल, जब ख़िश्त बने तब काम चले।
इन कच्ची-कच्ची बातों पर घर की अपने तामीर न कर॥

(ख) मैंने माना तुम्हारी नहीं सुनता कोई,
सुर मिलाना तुम्हें क्या फ़र्ज़ है शैतान के साथ।

(ग) हम उर्दू को अरबी क्यूँ न करें, उर्दू को वह भाषा क्यूँ न करें।
झगड़े के लिए अख़बारों में, मज़मून तराशें क्यूँ न करें॥
आपस में अदावत कुछ भी नहीं, लेकिन एक अखाड़ा क़ायम है।
जब इससे फ़लक का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यूँ न करें॥

(घ) क्यों अपने सर पै ज़हमते बेसूद लीजिए,
काउन्सिल के बदले घर में उछल-कूद कीजिए।
खा-पी के घर में बैठिए औ गाइए भजन,
कासी से जल प्रयाग से अमरूद लीजिए॥ (अकबर)

आप लोगों ने ये अवतरण सुन लिये। अब हिन्दी और उर्दू के कवियों के अवतरण मुक़ाबले में रखिए। आपको साफ़ मालूम होगा कि—

(१) हिन्दी में लगभग आठ सौ बरसों से प्रायः एक ही ढंग की कविता होती चली आई है, और यह भी देखा जाता है कि पहले संस्कृत के तत्सम बहुत ज्यादा काम में आते थे; किन्तु धीरे-धीरे आज तक कवियों ने संस्कृत के तत्समों को बराबर घटाते जाने की कोशिश की है। उसकी जगह पर तद्भवों का प्रयोग बढ़ाया गया है।

(२) हिन्दी की कविता में तुर्की, फ़ारसी और अरबी के शब्दों से कभी परहेज़ नहीं किया गया बल्कि उन्हें उचित स्थान दिया गया है।

उर्दू को आरम्भ हुए दो सौ बरस हुए, जिस बीच उर्दू वाले बराबर संस्कृत के तत्समों और तद्भवों का बहिष्कार करते रहे और फ़ारसी, अरबी तथा तुर्की की भरमार। यह काम अब तक जारी है।

(४) अगर उर्दू लिखने वालों की नीति संस्कृत के बहिष्कार की न होती तो आज लिपि के सिवा दोनों भाषाओं के रूपों में कोई भेद नहीं पाया जाता।

हिन्दी-उर्दू की लड़ाई मूँछ की लड़ाई है

हिन्दी और उर्दू की गद्य-रचना पद्य से बहुत पीछे की है। यों कुछ ग्रन्थ हिन्दी में बहुत पहले के मिलते हैं, और विशेषकर ग्रन्थों की टीकाएँ गद्य में लिखी गई हैं। उस गद्य की शैली अनूठी और आज की शैली से बहुत अलग है। पर जो बातें हिन्दी और उर्दू के पद्य के विषय में कही गई हैं, वही गद्य के सम्बन्ध में भी लागू हैं। पं० लल्लूलाल और सदल मिश्र की भाषा बहुत ही सादी और दिलचस्प है। हिन्दी

में बहुतेरे ऐसे लेखक हुए हैं, और हैं जो सहज और सुलभ भाषा लिखते हैं, जिनके लेखों में न तो बहुत बड़े संस्कृत के ही शब्द ज्यों-के-त्यों (तत्सम) घुसेड़े जाते हैं, और न फ़ारसी-अरबी के ही कड़े शब्द आने पाते हैं । यह बात कुछ उर्दू-लेखकों के बारे में भी कही जा सकती है । मैं पहले कह चुका हूँ कि ऐसे भी लेख हिन्दी और उर्दू में मिलते हैं, जिनको दूसरी लिपि में लिख देने पर हिन्दी को उर्दू और उर्दू को हिन्दी समझ सकते हैं । पर इसमें सन्देह नहीं कि कड़े शब्दों को घुसेड़ने की प्रथा अब जोर पकड़ रही है । यह लेखक की योग्यता, भाषा-ज्ञान और लेखन-शैली पर निर्भर रहता है कि वह अपने भावों और विचारों को सहज भाषा में अवगत करा सके । मेरा खयाल है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों को छोड़कर सभी बातें ऐसी भाषा में कही और लिखी जा सकती हैं, जो हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए एक ही हों । तब, मामूली शब्दों को छोड़कर बहुत बड़े-बड़े शब्दों का व्यवहार ठीक वैसा ही है जैसा हिन्दुस्तान की गर्मी के मौसम में यहाँ के ढीले-ढाले लिबास को छोड़कर विलायती बन्द और चुस्त वेस्टकोट, कालर, पतलून और बूट का पहनना । विज्ञान और दर्शन के पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत अथवा अरबी से लेना होगा । पर इस विषय में हिन्दी और उर्दू का एक होना बहुत कठिन है । इन विषयों की पुस्तकें साधारण जनता के लिए लिखी भी नहीं जातीं । इसलिए ऐसे ग्रन्थों की भाषा कुछ कठिन हो, तो भी कुछ शिकायत नहीं । मगर बोल-चाल, मामूली कहानी और क़िस्से, इतिहास, और जीवन-चरित्र के ग्रन्थों में कड़ी भाषा की ज़रूरत नहीं पड़ती । पर लिखने वालों की कमज़ोरी से यह होता ही है । इसलिए उर्दू का झगड़ा, मामूली काम के लिए, केवल मूँछ की लड़ाई है ।

अँगरेज़ों ने हिन्दी और उर्दू दोनों नाम हटाकर 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया । तीनों में से एक भी नाम हिन्दुओं का दिया हुआ नहीं है । पुराने हिन्दी-ग्रन्थों में 'हिन्दी' को 'भाषा' के नाम से पुकारा गया है । 'हिन्दी' शब्द फ़ारसी है । उसके साथ यायेनिस्बत लगाने से 'हिन्दी' बनी, और इसके मानी हैं 'हिन्द का' । फ़ारसी की किताबों में हिन्द के रहने वाले या हिन्द की ज़बान का नाम बराबर 'हिन्दी' पाया जाता है । अमीर खुसरो ने भी अपनी फ़ारसी की किताबों में यहाँ की भाषा के लिए 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' दोनों शब्दों का इस्तेमाल किया है । हमारी भाषा में पहले-पहल 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार पिछली सदी में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के लेख में मिलता है । अब वही शब्द हिन्दी-भाषा के लिए प्रयोग किया जाता है । 'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा से निकला है, और इसका अर्थ 'फ़ौज का खेमा या पड़ाव' है । जो भाषा ऐसे पड़ावों में बोली जाती थी, अर्थात् खिचड़ी भाषा, जिसमें फ़ौजी सिपाही अपनी भाषा के शब्दों से मिला-जुलाकर अपना ख़याल ज़ाहिर कर सकते थे, 'उर्दू' कहलाने

लगी। आज यह शब्द सार्थक नहीं है, क्योंकि न वह पड़ाव है, और न उसके बोलने वाले ही; पर यह नाम इस सुन्दर-सुडौल भाषा के साथ लगा ही रह गया। जो हो, मुसलमान 'हिन्दी' शब्द को फ़ारसी होने पर भी आज अपनाने को तैयार नहीं हैं। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों नाम रहेंगे।

मुसलमानों का यह सन्देह निर्मूल है कि हिन्दू उर्दू का नाश चाहते हैं, बात यह है कि जो उर्दू लिखते हैं, उर्दू-साहित्य का ज्ञान-लाभ करना चाहते हैं, उनको मौलाना आज़ाद की राय के मुताबिक़ फ़ारसी की इन्शा परदाज़ी से ज़रूर आगाही रखनी चाहिए। इसलिए उनकी भाषा में फ़ारसी के शब्दों का बहुतायत से आना भी अनिवार्य हो जाता है। उसी प्रकार हिन्दी लिखने वालों को भी हिन्दी-भाव और हिन्दी-शब्द प्रायः हिन्दी-साहित्य अथवा उसकी माता संस्कृत से ही मिलते हैं। उसमें किसी की शिकायत नहीं की जा सकती। कोशिश ऐसी ज़रूर होनी चाहिए कि कार-बार की भाषा, बोल-चाल की भाषा, और अख़बारों की भाषा, जहाँ तक हो सके ऐसी हो जिसे दोनों, हिन्दू और मुसलमान, बराबर समझ सकें, और मेरी समझ में ऐसा हो सकता है।

समझौते का एक उपाय

समझौते का एक सुन्दर और युक्तियुक्त उपाय श्रीयुत अध्यापक रामदास गौड़ ने बताया है। उनकी योजना इस प्रकार है :

"संस्कृत के ३१ हज़ार तद्भव और चार-पाँच हज़ार तत्सम शब्द, जो 'फ़रहंगे आसफ़िया' में आये हुए हैं, और 'हिन्दी-शब्द-सागर' में आये हुए सभी अरबी-फ़ारसी और दूसरे विदेशी शब्द, अगर इकट्ठे कर लिये जायँ तो ४० हज़ार से कुछ ऊपर ही ऐसे शब्द मिल जायँगे, जिनके हिन्दी होने में कोई हिन्दी वाला आपत्ति न करेगा, और जिनके उर्दू होने में किसी उर्दू वाले को कलाम नहीं हो सकता। फिर तो इतने शब्द दो बड़ी जातियों को मिलाने के लिए कम न होंगे। इन ४० हज़ार शब्दों में आप हिन्दू-धर्म और मुसलमानी मज़हब के जितने ख़याल हैं—दर्शन, तर्क, विज्ञान आदि जितने विषय हैं—सबका वर्णन ऐसे ढंग पर कर सकते हैं कि सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों को बराबर लाभ होगा।"

श्री गौड़ जी की इस योजना से बिहार-सरकार बहुत लाभ उठा सकती है। वह इसी प्रकार से एक शब्द-कोष तैयार कराकर दोनों लिपियों में छपवा सकती है। फिर यदि इसी शब्द-कोष को आदर्श (Standard) मानकर स्कूल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें भी ऐसी लिखाई जायँ जिनकी भाषा पारिभाषिक शब्दों को छोड़-कर बाक़ी आये हुए शब्द उस कोष से बाहर के न हों, और वे ही पुस्तकें दोनों लिपियों में छपवाई जायँ, तो हिन्दी-उर्दू की समस्या बहुत-कुछ हल हो जायगी। मैं

हिन्दी के प्रकाशकों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूँ।

लिपि का सवाल

भाषा से भी अधिक जटिल प्रश्न, मेरी समझ मे, लिपि का है। अगर उर्दू की सब किताबे देवनागरी मे छपतीं तो उनमे से अधिक को हिन्दी जानने वाले पढ़ और समझ लेते, मगर मुसलमान समझते हैं कि हिन्दुस्तान में इस्लामी सभ्यता का दारो-मदार फ़ारसी-लिपि पर है, और इसलिए, यद्यपि उर्दू और फ़ारसी भाषा में उतना ही भेद है जितना हिन्दी और फ़ारसी मे, तथापि फ़ारसी-लिपि में लिखी जाने के कारण वे उर्दू को अपनी समझते हैं। इसी प्रकार हिन्दू भी हिन्दी को अपनी समझते हैं। इसका निपटारा इसी से हो सकता है कि दोनों ही यथा-सम्भव दोनों लिपियों को सीखे। पर, यह सबके लिए आसान नहीं है। दूसरा उपाय यह है कि हिन्दी जानने वाले कुछ विद्वान् उर्दू-साहित्य का अध्ययन करे और उसके अच्छे-अच्छे ग्रन्थों को कठिन शब्दों के शब्दार्थ के साथ देवनागरी-अक्षरों मे छापें। इसी प्रकार उर्दू के विद्वान् हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों को फ़ारसी-लिपि मे टिप्पणी के साथ छापें। इससे एक दूसरे के साहित्य से हिन्दू और मुसलमान परिचित हो जायँगे, तथा एक दूसरे की लिपि सीखने को आकृष्ट होंगे। मुझे यह देखकर बहुत आनन्द हुआ है कि इसी शहर के हिन्दी-पुस्तक-भण्डार द्वारा दो उर्दू-कवियों की चुनी हुई कविताएँ देवनागरी अक्षरों में टिप्पणी के साथ छपी है, जैसे 'मीर' और 'जिगर' की। दूसरे प्रकाशक—जैसे इण्डियन प्रेस, हरिदास-कम्पनी आदि—ज़ौक़, हाली, ग़ालिब, दाग़, नज़ीर और अकबर आदि की कविताएँ टिप्पणी के साथ छाप चुके हैं। इनके अतिरिक्त पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता-कौमुदी' के चौथे भाग में 'वली' से लेकर 'अकबर' तक प्रायः सभी प्रसिद्ध उर्दू-कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह उनकी जीवनियों के साथ प्रकाशित किया है। यह मुझे नहीं मालूम कि उर्दू मे भी कोई ऐसा काम हो रहा है या नहीं। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो मुसलमान-भाइयों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए। पर, हिन्दी जानने वालों का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

अब लिपि के सम्बन्ध में एक और सवाल रह जाता है। वह है कचहरियों में उसका इस्तेमाल। बिहार की कचहरियों में केवल नागरी-लिपि और कैथी-अक्षर का व्यवहार होता है। वास्तव में 'कैथी' देवनागरी का ही कुछ विकृत रूप है। युक्त प्रदेश में देवनागरी अथवा फ़ारसी दोनों लिपियाँ इच्छानुसार लिखी जा सकती हैं, किन्तु काम में अधिक फ़ारसी लिपि आती है। पंजाब में तो केवल फ़ारसी लिपि का ही व्यवहार होता है। थोड़े दिनों से बिहार के कुछ मुसलमान भाइयों ने कचहरियों में फ़ारसी लिपि के भी दाख़िल किये जाने का सवाल उठाया है। काउन्सिल में यह प्रश्न आया था, मगर बहुमत से स्वीकृत न हुआ। इस वजह से कुछ मुसलमान असन्तुष्ट

है। इस सूबे में केवल २९३००० उर्दू बोलने वाले हैं, और वे सभी फ़ारसी-लिपि नहीं लिख सकते। सन् १९२१ ई० की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में लिखा है कि अधिकांश मुसलमान भी केवल कैथी लिपि में ही लिखते हैं। इन २९३००० उर्दू वालों में बहुत हिन्दू भी हैं; इसलिए ऐसे लोगों की संख्या, जो फ़ारसी लिपि जानते हों, बहुत ही कम है। कुल ३०९००००० की आबादी में मुश्किल से डेढ़ लाख उर्दू जानने वाले निकलेंगे। उनमें से भी बहुतेरे कैथी-लिपि ज़रूर जानते हैं। ऐसी अवस्था में यह दावा कि इन मुट्ठी-भर लोगों को यह मौक़ा दिया जाय कि यदि वे चाहें तो अपनी दरख्वास्त फ़ारसी-लिपि में ही कचहरियों में दाखिल कर सकें—विशेषकर यदि उन चन्द दरख्वास्तों को पढ़ने के लिए प्रायः सभी कचहरियों में उर्दू जानने वाले मुहर्रिर और पेशकार रखने पड़ें, और उसका खर्च उनको भी देना पड़े जो यह नहीं चाहते—न्याय-संगत नहीं है। इससे मुसलमानों को यह नहीं मानना चाहिए कि हिन्दू इस प्रस्ताव का विरोध करके मुसलमानों के प्रति द्वेष दिखलाते हैं। पर न्याय, हक़ और स्वत्व एक बात है, और आपस का व्यवहार तथा प्रेम-प्रदर्शन दूसरी चीज़ है। इसलिए यदि मुसलमानों से प्रीति-प्रदर्शन का भाव लेकर हिन्दू इस प्रस्ताव को स्वीकृत करें तो वे बधाई के योग्य होंगे, और मैं मुसलमानों को खुश करने के लिए इतना कर सकता हूँ। पर मैं यह भी जानता हूँ कि अधिकांश हिन्दुओं की यह राय नहीं है।

हिन्दी की प्रगति

बिहार-प्रान्त में हिन्दी की अवस्था के विषय के मैं इसके पूर्व कई सभापतियों ने बहुत-कुछ कहा है। मैं इस विषय को फिर दुहराना नहीं चाहता, क्योंकि विषय-विस्तार होने के अतिरिक्त मुझमें ऐसी योग्यता भी नहीं है। पर, यह देखकर सभी बिहारियों को आनन्द होगा कि इस सूबे में भी हिन्दी के उत्तम ग्रन्थ छपने लगे हैं। इस विषय में खड्गविलास प्रेस तो बहुत दिनों से हिन्दी की सेवा करता आ रहा है, पर बाबू रामलोचनशरण द्वारा स्थापित हिन्दी-पुस्तक-भण्डार ने भी अनेकानेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं, तथा और भी नई पुस्तकों के प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर रहा है। उनकी छपाई और सजावट सुन्दर और मनोग्राही है। इसके लिए बाबू रामलोचनशरण को, और दूसरे भी कोई प्रकाशक हों, जिनकी नई पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आई हैं, उनको भी, मैं बधाई देता हूँ।

बिहार की भूमि समाचार-पत्रों के लिए ऊसर है तथापि बाबू जगतनारायण-लाल के प्रयत्न से उन्हीं के सम्पादकत्व में बिहार के समाचार-पत्रों में 'महावीर' का आविर्भाव आनन्द का विषय है। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में बच्चों के पढ़ने लायक एक सर्वाङ्ग सुन्दर 'बालक' ने लहेरिया सराय में जन्म लिया है। मैं आशा करता हूँ कि यह नवजात पत्र दिन-दिन उन्नति और वृद्धि करेगा। बिहार में कई उच्च कोटि के

मासिक पत्र निकले और बन्द हो गए। बिहारियों से मेरा निवेदन है कि अपने इस नव-जात 'बालक' का लालन-पालन भली भांति करें, जिससे यह उत्तरोत्तर वृद्धि पाकर उनकी सेवा करता रहे। यदि इधर और भी कोई पत्र-पत्रिका निकली हो, जिसका मैं अनजान से उल्लेख नहीं कर रहा हूँ तो उसके संचालक मुझे क्षमा करेंगे।

मैं दो-एक बातें और कहे बिना इस भाषण को समाप्त नहीं कर सकता। मेरा विश्वास है कि जब तक अपनी भाषा द्वारा हमारे यहाँ के बच्चों को शिक्षा न दी जायगी, तब तक वे न तो अनुभवी और प्रतिभाशाली विद्वान् ही हो सकते हैं, और न साहित्य के भण्डार में कुछ जमा मिलाकर उसकी वृद्धि करने की योग्यता ही प्राप्त कर सकते हैं। विदेशी भाषा सीखने का भार यों ही भारी है, और उसका बोझ और भी बढ़ जाता है जब उसी के द्वारा और सभी विद्याओं को प्राप्त करना होता है। इसलिए देश के अनुभवी शुभचिन्तक और धर्मज्ञ शिक्षक बहुत दिनों से कहते आए हैं कि हमारे देश की पाठशालाओं और विद्यालयों में मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए। पर यह काम, कितने ही कारणों से, जिनमें अपने कुछ भाइयों का विरोध भी है, आज तक पूरा न हो सका। ख़ुशी की बात है कि हाल में बिहार में शिक्षा-विभाग की ओर से कई सरकारी और कितने ही अर्द्ध-सरकारी स्कूलों में प्रवेशिका-कक्षा तक हिन्दी द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है, इसका फल अच्छा होगा और शेष विद्यालयों में भी शिक्षा का माध्यम देशी-भाषा बहुत शीघ्र हो जायगी। शुरू में कुछ दिनों तक पुस्तकों के नहीं रहने के कारण कठिनाई पड़ेगी, किन्तु आरम्भ होने पर पुस्तकें स्वयं तैयार होने लगेंगी, और बड़ी शीघ्रता के साथ जो कमी है वह पूरी हो जायगी। बिहार विद्यापीठ में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। उच्च-से-उच्च कोटि की शिक्षा इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति इत्यादि विषयों में हिन्दी द्वारा ही दी जाती है। यदि सरकारी विश्वविद्यालय इसका अनुकरण करता, और हिन्दी को उच्च शिक्षा के लिए माध्यम बना लेता, तो आज शिक्षा की उन्नति कहीं अधिक हुई रहती, और जो कठिनाइयाँ आज दिखलाई जा रही हैं, वे आज तक बहुत अंशों में दूर हो गई होतीं।

बिहार के विश्वविद्यालय में हिन्दी को उच्च कोटि की परीक्षाओं के लिए भी एक विषय निर्धारित कर दिया गया है। पर खेद है कि इस विषय के पढ़ाने का कोई प्रबन्ध किसी सरकारी या सम्बद्ध महाविद्यालय में नहीं हुआ है। यह आश्चर्य और लज्जा की बात है कि ऐसा प्रबन्ध बंग-भाषी प्रांत के कलकत्ता-विश्वविद्यालय में है, और इस हिन्द-भाषी प्रांत में नहीं है। जहाँ तक मुझे मालूम है, प्रान्त के किसी महाविद्यालय में हिन्दी-पुस्तकों का ऐसा कोई पर्याप्त संग्रह भी नहीं है, जिसका विद्यार्थी स्वयं उपयोग करके विषय का अध्ययन करें। ऐसी अवस्था में हिन्दी का उच्च

कक्षा की परीक्षाओं के लिए, पाठ्य-विषय निर्धारित होना और न होना बराबर है। यदि बिहार-प्रान्त में हिन्दी-पठन-पाठन का साधन प्रस्तुत नहीं किया जायगा, तो क्या किसी अन्य प्रान्त अथवा देश में हम इसकी आशा कर सकते हैं ? सरकारी शिक्षा-नीति अपने ढंग की बेढब है, और इस सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ कहना नहीं है।

इधर ट्रेनिंग-स्कूलों में हिन्दी धीरे-धीरे पीछे की ओर ढकेली जा रही है। समझ में यही आता है कि एक ओर तो हिन्दी को प्रवेशिका परीक्षा तक स्थान देने का प्रबन्ध किया जा रहा है, और दूसरी ओर जहाँ उसका आज तक स्थान रहा है, वहाँ के शिक्षकों को ऐसा बनाया जा रहा है कि वे हिन्दी में दिनों-दिन कोरे होते जायँ। जिन लोगों का सरकारी शिक्षा-विभाग से सम्बन्ध है, वे इस नीति का अर्थ यदि जनता को बता देते तो अच्छा होता।

बहुत आन्दोलन के बाद सुना है कि पुस्तक-निर्वाचन-समिति में सुधार किया गया है। देखें इस सुधार का क्या फल होता है।

सम्मेलन के कार्य और हमारा कर्तव्य

यह सम्मेलन सात बरसों से काम करता आ रहा है। इसके कार्य के मुख्य दो विभाग रहे हैं। हिन्दी का प्रचार और साहित्य की वृद्धि। प्रचार का काम विशेषकर छोटा नागपुर के उस भाग में, जहाँ-जहाँ आदिम निवासी बसते हैं, आवश्यक है, पर अर्थाभाव से यह काम उतने विस्तार से नहीं हो रहा है, जितना होना चाहिए। तथापि यह हर्ष की बात है कि सिंहभूमि जिले में प्रायः दो बरसों से काम चल रहा है। इसका भार हिन्दी-भाषियों पर है कि इस भाषा का प्रचार भारतवर्ष के उन भागों में करें, जहाँ आजकल दूसरी भाषाएँ प्रचलित हैं। हिन्दी का प्रचार स्थानीय भाषाओं को हटाकर उनकी जगह लेने के लिए नहीं है बल्कि वह इसलिए है कि सार्वजनिक और दैशिक कामों में हिन्दी का व्यवहार करने की योग्यता उन प्रान्तों के निवासियों में भी आ जाय। इसलिए बिहार का मुख्यतः हिन्दी-भाषी भाग, अपने उन हिस्सों को, जहाँ आज हिन्दी नहीं बोली जाती, हिन्दी के नाते अपनाये बिना अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सकता। उड़ीसा का सारा प्रान्त अभी ख़ाली पड़ा है, । यहाँ भी कोई काम हिन्दी-प्रचार का सम्मेलन की ओर से नहीं किया जा सका। छोटा नागपुर डिवीज़न के शेष ज़िलों में तथा सन्थाल परगना में भी, बहुत काम करना है। इसलिए सम्मेलन को ऐसे त्यागी नवयुवकों की आवश्यकता है, जो हिन्दी-प्रचार को अपने जीवन का उद्देश्य बनायें, और इस शुभ कार्य के लिए आगे बढ़ें। साथ ही, सभी लोगों से भी प्रार्थना है कि वे इस काम में धन देकर सहायता करें।

सम्मेलन के उद्देश्य का दूसरा—साहित्य-वृद्धि का—कार्य भी हो रहा है। पर उसमें भी उसी कारण से कठिनाई हो रही है। मुझे इसका हर्ष और गौरव है कि इस

प्रान्त में हिन्दी के सुलेखकों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है, और यदि इनका उत्साह बढ़ाया जाय, तो मुझे विश्वास है कि अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बहुत संख्या में इस प्रान्त के लेखकों द्वारा रचे जायँगे। उत्साह बढ़ाने के लिए दो चीजें जरूरी हैं—पहली तो यह कि उनके ग्रन्थों को छपाने और प्रचार करने का प्रबन्ध होना चाहिए और दूसरी यह कि लिखने वालों को पुरस्कार-स्वरूप कुछ-न-कुछ मिलना चाहिए। सरस्वती और लक्ष्मी का वैर बहुत पुराना है। क्या इस प्रान्त के धनी सरस्वती के सेवकों को सहायता न देकर, इस पुरानी कहावत को चरितार्थ करते ही जायँगे ?

सम्मेलन के सामने काम बहुत हैं। इसलिए स्थान-स्थान पर सम्बद्ध सभाओं का स्थापित होना भी आवश्यक है। मैं आशा करता हूँ कि इस सम्मेलन से सहानुभूति रखने वाले सभी सज्जन स्थान-स्थान पर, पुस्तकालय तथा पाठशाला खोलकर और ऐसी परिषदें, जहाँ हिन्दी की चर्चा हो और लेख तथा पुस्तकें पढ़ी जायें, स्थापित करके इसके काम में यथासाध्य सहायता देंगे। अँगरेजी के प्रसिद्ध विद्वान् 'लंबक' ने सौ ऐसे ग्रन्थों की सूची बनाई थी, जिन्हें वे सभी शिक्षित घरों के लिए आवश्यक समझते थे। हिन्दी के विद्वान् यदि इस प्रकार की हिन्दी-ग्रन्थों की भी सूची तैयार कर देते, और सम्मेलन स्थान-स्थान पर पुस्तकालय स्थापित कराकर उन ग्रन्थों को रखने का प्रबन्ध करता, तो हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ जनता का ज्ञान भी बढ़ता, और देश को बहुत लाभ पहुँचता।

अन्तिम निवेदन

मैं किसी व्यक्ति-विशेष का नाम लेना नहीं चाहता हूँ; पर वे थोड़े नवयुवक, जो इस संस्था को सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी चलाते जा रहे हैं, हम सबके धन्यवाद के पात्र हैं। आप इनका हाथ बटाइए और इस महान् कार्य में सहायता प्रदान करके यश के भागी बनिए। कोई बड़ा काम बिना परिश्रम और त्याग के नहीं हो सकता। गिरे हुए देश को उठाने का काम और भी कठिन है। जो काम यह सम्मेलन कर रहा है वह उसके उत्थान का बड़ा साधन है, क्योंकि जिस देश को अपनी भाषा और साहित्य के गौरव का अनुभव नहीं है, वह उन्नत नहीं हो सकता। साहित्य का काम जाति और धर्म की सीमाओं को लाँघकर सच्चा सार्वजनिक रूप धारण कर लेता है। आइए, हम सब, जिससे जैसे बन पड़े—धन से, देह से मस्तिष्क से—इसकी सेवा करें।

३

हिन्दी का व्यापक स्वरूप[1]

आपने जिस आसन पर मुझे बिठाया है उसका मैं अधिकारी कदापि नहीं हूँ। साहित्य के साथ जो थोड़ा सम्बन्ध था वह भी बहुत दिनों से छूट गया है और यदि आज तक रहता भी, तो भी मैं इतना अभिलाषी नहीं हूँ कि यह उम्मीद करता कि आप मुझे इस स्थान पर उसके कारण बिठाते। जो हो, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है और वह इस आशा से कि जो आज्ञा देता है उसी पर उसके पालन कराने का भी भार रहता है, अतएव आप इस भार को मुझे यहाँ की कार्रवाई में सहायता देकर उठायेंगे।

सम्मेलन के उद्देश्य, जो नियमावली में छपे हैं, अधिकांश ऐसे हैं जिनकी पूर्ति में ऐसा आदमी भी सहायता कर सकता है जिसका साहित्य पर अधिकार न हो और शायद इसी कारण आपने मुझे चुना है। यह भार भी आपकी सहायता से ही निभाया जा सकता है। इसलिए आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ मैं उससे भी अधिक आशा करना चाहता हूँ कि आप हिन्दी-प्रचार के काम में सहायक बनकर मेरे निर्वाचन को सार्थक बनायें।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा बनने का दावा करती है। आज भी हिन्दी बोलने वालों और समझने वालों की संख्या चौदह-पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है। जो हिन्दी-भाषी नहीं हैं उनमें भी नागपुर, गुजरात, बरार, महाराष्ट्र और बंगाल-जैसे प्रान्तों में हिन्दी समझने वालों की एक बड़ी संख्या है, यद्यपि उनकी गिनती नहीं हुई है और करना कठिन भी है। मुसलमानों में, विशेष कर जो उत्तर भारत में बसते हैं, प्रायः सभी हिन्दी समझते और बोलते हैं। दक्षिण भारत के मुसलमान भी प्रायः हिन्दी समझ और बोल लेते हैं और यद्यपि पंजाब में पंजाबी बोली जाती है तो भी वहाँ की अधिकांश जनता हिन्दी समझ और बोल सकती है। इसलिए यदि हिन्दी आज भी राष्ट्रभाषा होने का दावा करे तो यह स्वाभाविक ही है।

मेरे कहने का तात्पर्य आप समझ गए होंगे कि मैं हिन्दी की व्यापक परिभाषा कर रहा हूँ। यों तो विद्वानों में इस बात में भी मतभेद है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएँ हैं या एक। स्वर्गीय पंडित गोविन्दनारायण मिश्र जी ने, जो हिन्दी और प्राकृत

१. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पच्चीसवें नागपुर-अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण, सन् १९३६

के प्रगाढ़ विद्वान् थे, द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में सभापति-पद से किये गए अपने भाषण मे इस बात पर बहुत ज़ोर दिया था और बहुत से प्रमाण उपस्थित किये थे कि हिन्दी और उर्दू एक नहीं, दो भाषाएँ हैं। दूसरी ओर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने 'हिन्दी क्या है' शीर्षक निबन्ध में लिखा है :

"हिन्दुस्तान-निवासी जन-साधारण की भाषा का नाम हिन्दी है। हिन्दुस्तान की यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी है। यथार्थ में उर्दू और कुछ नहीं है, वह हिन्दी ही है।"

आज यह हिन्दी-उर्दू का सवाल भले ही विकट रूप धारण कर रहा हो और मुसलमान 'हिन्दी' नाम से झिझक रहे हों, लेकिन थोड़ा पीछे की ओर देखने से पता चलता है कि यह हिन्दी नाम मुसलमानों ही का दिया हुआ है और यह नामकरण और इस नाम का प्रयोग भी किसी साधारण व्यक्ति ने नहीं, बल्कि अमीर खुसरो, मीर तकी, इन्शा और मलिक मुहम्मद जायसी-जैसे विद्वानों ने किया है। अमीर खुसरो के विषय में उर्दू के सर्वमान्य श्रेष्ठ कवि ग़ालिब ने लिखा है कि "हिन्दुस्तान के सुख़नवरों में अमीर खुसरो देहलवी के सिवा कोई उस्ताद मुसल्लिमुस्सबूत नहीं हुआ" और "मैं अहलेज़बान का पैरो हूँ और हिन्दियों में सिवा अमीर खुसरो देहलवी के सबका मुनकिर हूँ।" इतना ही नहीं, ग़ालिब ने और भी कहा है :

ग़ालिब मेरे क़लाम में क्योंकर मज़ा न हो,
पीता हूँ धो के खुसरवे शीरीं सख़ुन के पाँव।

ग़ालिब ही नहीं, मौलाना शिबली भी अमीर खुसरो के विषय में लिखते हैं : "हिन्दुस्तान में छै सौ बरस से आज तक इस दर्जे का जामैकमालात नहीं पैदा हुआ और सच पूछो तो इस क़दर मुख़्तलिफ गूनागूँ औसाफ़ के जामा ईरान और रूम की ख़ाक न भी हजारों बरस की मुद्दत में दो ही चार पैदा किये होंगे।" वही खुसरो लिखते हैं :

अरबी बोलें आईना, फ़ारसी बोलें पाईना।
हिन्दी बोले आरसी, आये मुँह देखे जो इसे बताये॥

जिनके विषय में सुप्रसिद्ध कवि ज़ौक ने लिखा है :

न हुआ पर न हुआ मीर का अन्दाज़ नसीब।
ज़ौक़ यारों ने बहुत ज़ोर ग़ज़ल में मारा॥

और ग़ालिब ने कहा है :

अपना भी यह अक़ीदा है बक़ौले मोमिन।
आप बेबहरा है जो मौत क़िदे मीर नहीं॥

वही उर्दू के माने हुए उस्ताद मीर तक़ी साहब हिन्दी-शब्द का प्रयोग करते हैं :

क्या जानूं लोग कहते हैं किसको गुरूरे कल्न,
आगा नहीं है लफ्ज यह हिन्दी जबां के बीच ।

सुप्रसिद्ध कवि इंशा ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में उस पुस्तक की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है: 'जिसमें हिन्दवी छुट किसी और भाषा की पुट नहीं हो ।"

इनसे भी प्राचीन 'पद्मावत' के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा है :

"अरबी तुरकी हिन्दवी, भाषा जेती आहि
जामें मारग प्रेम का, सबै सराहे ताहि ।"

पर मैं इस झगड़े में न पड़कर कि व्याकरण और भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुसार हिन्दी और उर्दू एक हैं या नहीं, केवल व्यवहार-रूप से कहना चाहता हूँ कि जितने लोग आपस में एक दूसरे के साथ उस भाषा में बातें कर सकते हैं जिसको हम हिन्दी मानते हैं, चाहे वह व्याकरण के अनुसार शुद्ध हिन्दी न भी हो और चाहे उसमें कितने ही शब्द ऐसे हों जो हिन्दी-कोषों में न मिलते हों, वे सभी हमारे काम के लिए हिन्दी-भाषा-भाषी माने जा सकते हैं, और उन सबको मैंने अपनी उपर्युक्त गिनती में शामिल कर लिया है । हिन्दी राष्ट्रभाषा तभी हो सकती है जब हम उन सबको शामिल करेंगे । यदि ऐसा न करें तो जो हिन्दी आज पुस्तकों में लिखी जाती है वह बहुत थोड़े ही लोगों की मातृभाषा है और हिन्दी-भाषियों की संख्या कितनी ही प्रान्तीय-भाषा-भाषियों की संख्या से भी कम हो जाती है । उदाहरणार्थ, आप बिहार को ही लीजिए । वह हिन्दी-भाषी प्रान्त समझा जाता है और ठीक समझा जाता है, पर उस प्रान्त में कई बोलियाँ बोली जाती हैं । शाहाबाद, सारन, चम्पारन और मुजफ्फरपुर के कुछ हिस्सों में भोजपुरी बोली जाती है । दरभंगा, उत्तर मुंगेर, उत्तर भागलपुर, पूर्णिया और मुजफ्फरपुर के उत्तरी भागों में मैथिली बोली जाती है। पटना, गया, दक्षिण मुंगेर और छोटा नागपुर में मगही बोली जाती है तथा भागलपुर, संथाल परगना और मुंगेर के कुछ हिस्सों में छीका-छीकी बोली जाती है । इनमें से मैथिली के सिवा किसी की भी अलग लिपि नहीं है, और न किसी का कोई लिखित साहित्य । ये सभी आज की पुस्तकों की हिन्दी से बहुत अलग हैं और इन बोलियों के बोलने वालों से, जो शिक्षित नहीं हैं वे पुस्तकों की हिन्दी पूरी तरह नहीं समझ सकते । मैं समझता हूँ कि संयुक्त प्रान्त में भी कई बोलियाँ बोली जाती हैं और आज की सुसंस्कृत हिन्दी शायद ही किसी जिले में पूरी-पूरी शुद्धता के साथ घरों में बोली जाती हो । हाँ, वह बिहार की बोलियों की अपेक्षा शुद्ध हिन्दी के अधिक निकट अवश्य है । यद्यपि मुझे मध्य प्रदेश की बोलियों का ज्ञान अधिक नहीं है, तथापि वहाँ

भी यही कैफ़ियत होगी। राजपूताना भी हिन्दी-भाषी प्रान्त कहा जाता है, लेकिन उसमें भी कई अलग-अलग बोलियाँ हैं। दिल्ली और पंजाब के कुछ हिस्सों को भी हिन्दी-भाषी प्रान्त कहते हैं, लेकिन वहाँ भी बोली दूसरी है। इसलिए जब इस हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखते हैं और विचार करते हैं तब इसको यह मानना ही पड़ता है कि जो कोई भी इससे काम ले सकता है, वह हिन्दी-भाषा-भाषी है।

राष्ट्रभाषा से यह अभिप्राय है कि यह अन्तर्प्रान्तीय व्यापार और सार्वजनिक व्यवहार में सभी प्रान्तों के रहने वालों द्वारा बरती जाय और कन्याकुमारी से बदरिकाश्रम तक और अटक से कटक तक सभी जगहों में एक दूसरे के साथ बातें करने और विचार-विनिमय में काम में लाई जाय। अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हुए भी हिन्दी इन शर्तों को पूरा करती है। तेलुगु, तमिल, मलयालम और कन्नड़ी भाषाएँ ही केवल ऐसी हैं जिनका हिन्दी के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है और जिनके बोलने वाले न हिन्दी समझ सकते हैं और न जिनको हिन्दी बोलने वाले समझ सकते हैं। उनमें भी संस्कृत-शब्दों की बहुलता रहने से थोड़े प्रयत्न से ही सफलता मिल सकती है। फिर भी उत्तर और पश्चिम भारत में, जहाँ आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं, हिन्दी का प्रचार आसान है और दक्षिण प्रदेशों में, जहाँ द्रविड़ भाषाएँ प्रचलित हैं, यह काम अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। राष्ट्रभाषा होने की अधिकाधिक योग्यता हिन्दी में आनी और लानी चाहिए। उसके प्रचार के रास्ते में जो बाधाएँ हों उनको दूर करना चाहिए। हिन्दी की त्रुटियों को हटाकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। इसलिए स्वभावतः हिन्दी के रूप पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

भाषा के दो अंग हैं—शब्द और व्याकरण। यह निर्विवाद है कि इस बात का निर्णय करना कि एक वाक्य-विशेष किस भाषा का है—इस पर इतना निर्भर नहीं है कि उस वाक्य के शब्द किस भाषा से लिये गए हैं अथवा उनकी उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई है, बल्कि इसका निर्णय वाक्शैली, विभक्तियों और क्रिया-पदों पर ही निर्भर है। उदाहरणार्थ एक छोटे वाक्य को लीजिए :

राम ने हुक्म दिया, मोटर लाओ।

इस छोटे वाक्य में 'राम' नाम है, 'हुक्म' अरबी शब्द है, 'दिया' क्रिया है, 'मोटर' अँगरेजी शब्द है, और 'लाओ' हिन्दी शब्द है। इसमें हिन्दी, अरबी और अंगरेजी के शब्द आये हैं, पर अंगरेजी और अरबी के शब्द रहते हुए भी यह हिन्दी का ही वाक्य है। इसलिए अगर हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द आ जायँ जो किसी दूसरी भाषा से लिये गए हैं, तो भी वह हिन्दी ही रहेगी। जितनी जिन्दा भाषाएँ हैं वे अपने शब्द-कोष को बराबर बढ़ाती जाती हैं और उनके कवि तथा लेखक दूसरी भाषा के नये-नये शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में करते रहते हैं। बाहर की बात जाने

दीजिए, हिन्दुस्तान की भी बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रायः सभी भाषाओं में दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है; उर्दू वाले भी इसमें किसी से पीछे नहीं हैं। उर्दू के महाकवि अकबर हिन्दी-शब्दों को बड़ी आसानी से ले लिया करते थे। जैसे :

"सबुन इनमें संवरता है सजन में म संवरता हूँ"
"आगाश से सिधारा मुझसे य' कहने वाला।"

उन्होंने कितनी आसानी से 'सँवरना' और 'सिधारना' शब्दों को अपना बना लिया है। स्वर्गीय मौलाना हाली ने लिखा है :

"जब तक शायर की फिक्र में इतनी भी उपज न हो, जितनी एक बया में घोंसला बनाने की और मकड़ी में जाला पूरने की होती है, उसको हरगिज मुनासिब नहीं कि इस खयाले-खाम में अपना वक्त जाया करे, बल्कि खुदा का शुक्र करना चाहिए कि उसके दिमाग में खलल नहीं।"

इसमें 'उपज' और 'पूरना' शब्द उन्होंने हिन्दी की बोल-चाल से ले लिये हैं।

आज के युग में, जब दुनिया से वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण दूरी और समय का भेद उठता जा रहा है। कोई भी भाषा दूसरी भाषाओं के संपर्क से अपने को अछूती नहीं रख सकती। यदि वह ऐसा प्रयत्न करे तो संसार की दौड़ में वह बहुत पीछे रह जायगी और उसके लिए उन्नति के दरवाजे बन्द हो जायँगे। हिन्दी-भाषा के गुणों में एक विशेष गुण यह है कि हिन्दुओं की भाषा होती हुई भी उसने अरबी-फ़ारसी के ही नहीं, बल्कि तुर्की, पुर्तगाली और अँगरेजी इत्यादि के शब्दों को भी अछूत नहीं समझा। यदि ऐसा नहीं किया होता तो कितने ही शब्द, जो हमारे घरों में पहुँच गए, आज न होते और उनके पर्यायवाची शब्द हमारे पास शायद इतने सुगम न मिलते। इस प्रकार के शब्द प्रायः मनुष्य-जीवन के सभी कामों से सम्बन्ध रखते हैं और उनके बिना जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता। यथा :

सौगात, गलीचा, बहादुर, मुचलका, कुली, कैंची, चाकू, लाश, दारोगा, तोप, चिक आदि तुर्की से।

अल्मारी, अचार, बोतल, कमरा, आलपीन, गमला, गोभी, गोदाम, चाबी, मिस्त्री, मेज, तम्बाकू, नीलाम, तौलिया, पराल, बुताम, सन्तरा आदि पुर्तगाली से।

समन, जज, सिगरेट, रबर, रजिस्टर, लालटेन, मशीन, मजिस्ट्रेट, बैंक, बम, रिपोर्ट, फ़ीस, परेड, टिकट, ड्राइवर, टीन, टेबिल, मैनेजर, मास्टर, मिल, मेम्बर, मेम, मोटर, मिनट, बिल्टी, बिगुल, प्लेग, पुलिस, बटन, मनीबैग, रजिस्ट्री, मनिआर्डर स्टेशन, प्लैटफ़ार्म, ट्रेन, मानीटर, कांग्रेस, कालिज, कम्पनी, कलेण्डर, कमिटी, कापी,

कार्निस, कुनैन, कोट, कौन्सिल, ग्लास, गिन्नी, गैस आदि अँगरेज़ी से।

हद, बालिग़, हलवाई, अमीर, अतलस, तोशक, तकिया, हुक्का, असबाब, बुख़ार, बहस, बलना, गल्ला, जेब, दलाल, तरावट आदि अरबी से।

पुर्जा, गुलाल, अख़बार, नौकर, पुल, दंगल, सितार, जलेबी, रन्दा, दवात, दिहात, बेबाक, पलक, चश्मा, वकील, लाला, बीमा, बाबा, पाजी, दामाद, तालाब, बख़िया, तमाचा आदि फ़ारसी से।

हिन्दी के प्राचीन प्रसिद्ध कवियों की कविता में भी बहुतेरे शब्द ऐसे मिलते हैं जो विदेशी भाषा के हैं या विदेशी शब्दों के रूपान्तर-मात्र हैं। यथा :

जायसी—शेरशाह दिल्ली सुलतानू।

सूरदास—हौं हरि सब पतितन को नायक,
को करि सकै बराबरि मेरी इते मान को लायक।

तुलसीदास—गई बहोरि गरीब' नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।
भइ बकसीस जाचकन दीन्हा।
बना बजार न जाय बखाना।
जनवासे गवने मुदित सकल भूप सिरताज।
कुम्भकरन कपि फौज बिडारी।
लोकप जाके बन्दीखाना।
जो कछु झूठ मसखरी जाना।
बैठे बजाज-सराफ़ बनिक, अनेक मनहुँ कुबेर से।
गनी-गरीब ग्रामनर नागर
कोटि कँगूरन चढ़ि गए कोटि-कोटि रनधीर

बोधा—होय मगरूर तापे दूनी मगरूरी कीजै,
लघु चलै ह्वै जो तासों लघुता निबाहिए।

पद्माकर—एते गज बकसे महीप रघुनाथ राव,
याही गज धोखे कहूँ काहू देय डारेना।

भूषण—रूप रूँधि डारै खुरासान खूँदि मारै ख़ाक,
खादर लौं झारै ऐसी साहू की बहार है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है।

मतिराम—सूबनि को मेटि दिली दल दलिबे को चमू,
सुभट समूहन सिवा की उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर मैं,
काहू के न हिम्मति हिये में उलहति है।

सत्रुसाल नन्द के प्रताप की लपट सब,
गरबी गनीम बरगीन को दहति हैं।
पति पातशाह की इज्जति उमरावन की,
राखी रैया राव भानसिंह की रहति है।

बिहारी—लिखन बैठि जाकि सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥
बचै न बड़ी सबील हूँ चील घोंसुला माँस।

तुलसीदास तथा हिन्दी के अन्य प्राचीन कवियों की रचना में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का ही नहीं, उर्दू में आजकल प्रचलित मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। जैसे :

'बालिस बासी अवध का बूझिये न खाको ॥'

अर्थात् अयोध्या के निवासी खाक भी नहीं समझते।

'कंयो बार कही पिय अजहूं न आये बाज'

अर्थात् हे स्वामी, मैंने कई बार कहा, तुम अभी तक बाज़ नहीं आये।

इसमें 'खाक नहीं समझना' और 'बाज़ नहीं आना'—ये मुहावरे उर्दू में आज-कल प्रचलित हैं, जो शब्द पहले तुलसीदास की बोल-चाल में थे।

अँगरेज़ी आज संसार की एक सजीव भाषा है, जिसका बहुत प्रचार है और जो संसार के कोने-कोने में पढ़ी और बरती जाती है। उसका शब्द-भण्डार इतना बड़ा है और इतना बढ़ता जा रहा है कि 'आक्सफोर्ड-डिक्शनरी' में, जिसके तैयार होने और छपने में कई वर्ष लग गए, कितने ऐसे ही शब्द नहीं मिलते जो उसके आरम्भ के भागों के छपने के समय अँगरेजी में प्रचलित नहीं हुए थे; पर जो अंत के भागों के छपने के समय तक अँगरेज़ी भाषा में ले लिये गए और आज समाचार-पत्रों और लेखों में प्रायः प्रतिदिन मिला करते हैं। आज से पचास वर्ष पहले के छपे किसी भी अँगरेज़ी कोष को आज के छपे किसी अच्छे कोष से मिलाकर देखा जाय तो इतना पता चलेगा कि आज कितने ही नये शब्द उस भाषा में ले लिये गए हैं और उसका भण्डार किस तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है। यह किसी को कहने की हिम्मत नहीं होगी कि अँगरेज़ी भाषा इन शब्दों के आ जाने से विकृत अथवा दूषित हो गई है अथवा वह अँगरेज़ी भाषा न रही। जो नये शब्द आये हैं वे सारे संसार की भाषाओं से लिये गए हैं। पुरानी अँगरेज़ी में लैटिन, ग्रीक, फ्रेञ्च, जर्मन इत्यादि के ही शब्द अधिकता से लिये जाते थे, पर अब तो हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी इत्यादि के अतिरिक्त दक्षिण भारत, अफ्रीका, अमेरिका, चीन और जापान की भाषाओं के भी आवश्यक और अर्थपूर्ण शब्द ले लिये जाते हैं और यूरोपीय भाषाओं के शब्द तो अधिकाधिक लिये ही जा रहे हैं।

यह साधारण भाषा की बात मैं कह रहा हूँ। वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों का तो अलग ही कोष और भण्डार है और उनकी संख्या तो दिन-दिन बढ़ती जाती हैं। जो नई चीज़ें आविष्कृत होती हैं और जो नये यंत्र और उनकी नई क्रियाएँ होती हैं उन सबके लिए नये शब्द तो बनते ही जा रहे हैं। यही जीती-जागती भाषा और जाति के चिह्न हैं।

हिन्दी भी यदि जीती-जागती भाषा होना चाहती है तो उसे अपने शब्द-भण्डार को बढ़ाना पड़ेगा। बहिष्कार की नीति तो वह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती और न विदेशी शब्दों को बाहर रखकर वह अपनी उन्नति कर सकती है। हिन्दी संस्कृत नहीं है। हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिन्दी ही रहेगी। उसमें ऐसे शब्दों के पचाने की शक्ति होनी चाहिए और उसके लेखकों को ऐसे शब्दों का ज्ञान होना चाहिए। इसलिए हिन्दी-उर्दू के झगड़े में मैं तथ्य नहीं देखता हूँ। हिन्दी में जितने फ़ारसी और अरबी के शब्दों का समावेश हो सकेगा उतनी ही वह व्यापक और प्रौढ़ भाषा हो सकेगी। हमको तो यह गर्व मानना चाहिए कि हम केवल संस्कृत के ही नहीं, अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपना जामा पहनाकर अपना लेते हैं और अपने शब्द-भण्डार को बढ़ा सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल 'जाते', 'आते', 'हैं', 'थे' इत्यादि शब्दों को छोड़कर सभी अरबी-फ़ारसी के शब्दों को इकट्ठा कर देने से ही हिन्दी का वाक्य बन जाता है। इसका अर्थ इतना ही मात्र है कि जो शब्द प्रचलित हो गए हैं उनको तो रखना ही चाहिए और उनके बहिष्कार का प्रयत्न हास्यास्पद है। मेरे एक श्रद्धेय मित्र ने इस बहिष्कार के काम को इतनी दूर तक पहुँचाया था कि रूमाल जैसे छोटे और सुगम शब्द को छोड़कर उन्होंने उसके बदले में 'मुखमार्जन-वस्त्रखण्ड' का व्यवहार उचित समझा था। मैं उस प्रकार के बहिष्कार को हिन्दी के प्रति अन्याय समझता हूँ। इतना ही नहीं, मैं तो यह भी चाहता हूँ कि ऐसे शब्दों को, जो आज प्रचलित नहीं हैं, पर अच्छे हैं, जिनसे हमारा काम ठीक निकल सकता है, हम अपनी भाषा में दाखिल कर लें और प्रचलित कर दें।

हिन्दी के शब्द-भण्डार की पूर्ति संस्कृत से तो होनी ही चाहिए, पर यदि सुगम और छोटे शब्द—जिनसे हमारा अर्थ ठीक निकल सकता हो—दूसरी भाषा के भी हों, तो उनको ले लेने में हिचक नहीं होनी चाहिए। विशेषकर जब हम हिन्दी को भारत-वर्ष की राष्ट्र-भाषा मानते हैं, तो हमको इस पर अवश्य ध्यान देना होगा कि किन शब्दों के समावेश से उसका प्रचार अधिक हो सकेगा।

आज से ६२ वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने हिन्दुस्तानी की नींव

डाली थी। उनकी भाषा मे अधिकतर वे ही शब्द आने पाये है जो रोजमर्रा की बोल-चाल के हैं। एक जगह वे लिखते हैं :

"पंडित लोग सोचते है कि जितने असली संस्कृत शब्द (चाहे वह समझ में आवें चाहे नहीं) लिखे जायें उतनी ही उनकी नामवरी का सबब है और इसी तरह मौलवी लोग फ़ारसी और अरबी शब्दों के लिए सोचते है। ग़रज़ पुल बनाने के बदले दोनों खंदक को गहरा और चौड़ा करते जा रहे है।"

कितने आश्चर्य की बात है कि हम अस्सी-नब्बे वर्ष पहले से अपना भविष्य जानते हुए भी अभी तक सचमुच उस खंदक को गहरा ही करते जा रहे हैं!

इस विषय पर विचार करने में हमें दो बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। मै कह चुका हूँ कि उत्तर भारत के मुसलमान प्रायः सभी हिन्दी जानते और बोलते हैं। उनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के अधिक शब्द होते है सही, पर वह हमारी समझ में बहुत-कुछ आ जाती है। हमारी भाषा में संस्कृत-शब्द अधिक होते हैं, पर वे भी हमारी भाषा मामूली तौर पर समझ लेते है। आज उर्दू लिखने वालों में एक चाल चल गई है कि फ़ारसी और अरबी के बड़े-बड़े शब्द लाकर अपने लेखों को भर डालते है और हिन्दी के लिखने वाले भी इस दोष से बचे नहीं हैं। उनमें भी बहुतेरे संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द अपनी रचनाओं में भर देते हैं। दोनों जान-बूझकर ऐसा करते है और दोनों—दोनों की शिकायतें किया करते हैं। ऐसे लोग भी, जो सरल भाषा लिख सकते है, जान-बूझकर भाषा को कठिन और जटिल बनाते हैं। इस बात को मैं आगे हिन्दी और उर्दू के एक-एक कवि की ऐसी रचनाओं के उदाहरण से और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जो सुबोध भाषा भी लिख सकते हैं और सुगम शब्दों का प्रयोग करके लोकप्रिय भी हो चुके हैं। जैसे :

एक दुनिया से उठा है चाहता।
और है उठती जवानी एक की॥

'चाँद और सूरज गगन में घूमते हैं रात-दिन' आदि के रचयिता कविवर अयोध्यासिंह जी उपाध्याय-जैसे हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि लिखते हैं :

रुपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली,
शोभावारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य-लीलामयी
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थीं।

* * *

खिन्ना दीना विनतवदना मोहमग्ना मलीना,
आसीना थीं निकट पति के अम्बुनेत्रा यशोदा।

पहली चार पंक्तियों में केवल 'की-सी' और 'थीं' के प्रयोग को छोड़कर इनमें

और संस्कृत में कोई भेद नहीं है। दूसरी दोनों पंक्तियों मे 'यदि', 'थी' और 'के' एक-एक बार न आते तो यह पद्य संस्कृत का श्लोक हो जाता !

दूसरी ओर किसी समय 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' और 'दुनियां की महफ़िलों मे उकता गया हूं या रब' के रचयिता सर मुहम्मद इक़बाल की ये लाइनें हिन्दुस्तान के देश-भक्तों की ज़बान पर थीं। बच्चे-बच्चे तक इनको गाते थे। उनकी एक पुरानी ग़ज़ल है :

सच कह दूँ ए बिरहमन गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमकदों के बुत हो गए पुराने ।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा,
जंगो जदल सिखाया वायज़ को भी खुदा ने ।
तंग आके मैंने आख़िर दैरो-हरम को छोड़ा,
वायज़ का वाज़ छोड़ा छोड़े तेरे फ़साने ।
पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है,
ख़ाके वतन का मुझको हर जर्रा देवता है ।
आ ग़ैरियत के पर्दे यक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें नक़्शे-दुई मिटा दें ।
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ यक नया शिवाला इस देश में बना दें ।
दुनिया के तीरथों से ऊँचा हो अपना तीरथ,
दामाने-आसमाँ से इसका कलस मिला दें ।
हर सुबह उठ के गायें मन्तर वो मीठे-मीठे,
सारे पुजारियों को मय पीत की पिला दें ।
शक्ती भी शानती भी भगतों की गीत में है,
धरती के वासियों की मुकती पिरीत में है ।

इसके शब्द कितने सरल, और स्वाभाविक है। लेकिन जब इन्हीं इक़बाल साहब के विचारों में प्रतिक्रिया हुई तो उसका फल बेचारी भाषा और कविता को भी भोगना पड़ा, और भाषा भी प्रतिक्रियाशील और दुरूह बना दी गई। इस उलट-फेर की बानगी के तौर पर इनकी यह जटिल रचना भी देखिए :

इस दौर में मय और है जाम और है जम और
साक़ी ने बिना की रविशे लुत्फ़ो सितम और ।
मुसलिम ने भी तामीर किया अपना हरम और,
तहज़ीब के आजर ने तरशवाये सनम और ।

इन ताजा खुदाओं मे बड़ा सबमे वतन हे,
　　जो पैरहन इसका है वह मजहब का कफ़न है
यह बुत के तराशीदये तहज़ीबनवी हे,
　　गारत गरे कामानये दीने नववबी है।
बाजू तेरा तौहदी की क़ूवत मे कवी है,
　　इस्लाम तेरा देश है तू मुस्तफ़वी है।
नज्जारये देरीना जमाने को दिखा दे,
　　ऐ मुस्तफ़वी खाक में इस बुत को मिला दे।
हो क़ैदे मुक़ामी तो नतीजा है तबाही,
　　रह बहर में आजादे वतन सूरते माही।
है तर्के वतन सुन्नते महबूब इलाही
　　दे तू भी नबूवत की सदाक़त पै गवाही।
गुफ़्तारे सियासत में वतन और ही कुछ है,
　　अरसादे नबूवत में वतन और ही कुछ है।
अकवा में जहाँ में है रक़ाबत तो इसी से,
　　तसख़ीर है मक़सूदे तिजारत तो इसी से।
खाली है सदाक़त से सियासत तो इसी से,
　　कमजोर का घर होता है गारत तो इसी से।
अकवाम में मखलूके खुदा बँटती है इससे
　　क़ौमीयते इस्लाम की जड़ कटती है इससे।

*　　*　　*

हमारा ध्येय इन दोनों के बीच का मध्यम रास्ता है। हम न अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बहिष्कार करेंगे और न केवल संस्कृत-शब्दों को ही लेंगे और न संस्कृत का बहिष्कार करके केवल फ़ारसी-अरबी के शब्दों को ही रखेंगे। इसलिए जहाँ हमें यह देखना जरूरी है कि फ़ारसी-अरबी-शब्दों के बहिष्कार से मुसलमान के लिए हिन्दी को अधिक कठिन बनाते जायँगे, वहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि केवल फ़ारसी-अरबी के शब्दों को लेकर और संस्कृत का बहिष्कार करके हम गुजराती, मराठी, असमिया, तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ भाषा-भाषियों के लिए हिन्दी को अधिक कठिन तो नहीं बनाते जा रहे हैं। हिन्दू-संस्कृति संस्कृत द्वारा ही सारे भारत में फैली है और आज भी संस्कृत-शब्दों का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से और इन प्रान्तीय भाषाओं द्वारा अहिन्दी प्रान्तों में बहुत फैला हुआ है। इसलिए ऐसे संस्कृत के शब्दों को हिन्दी में लेने से उन प्रान्तों के निवासियों के लिए हिन्दी को हम सुगम बना देते हैं। हमारे

सामने यह जटिल प्रश्न है कि हम न तो इन प्रान्तों के हिन्दुओं को छोड़ सकते हैं और न उत्तर भारत के मुसलमानों से हिन्दी को अलग रख सकते हैं। यदि हम ऐसा करेंगे तो उसका फल यह होगा कि जहाँ हम एक ओर हिन्दी-भाषियों की संख्या बढ़ायेंगे और हिन्दी का प्रचार व्यापक बनायेंगे वहाँ दूसरी ओर उनकी संख्या आज जहाँ है वहाँ घटायेंगे और उसका प्रचार दक्खिन में बढ़ाकर उत्तर में कम कर देंगे। इसलिए बुद्धिमत्ता इसमें है कि शब्द-भण्डार को बढ़ाया जाय।

शब्द-भण्डार बढ़ाने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि फ़ारसी की लुग़त निकालकर उसके सभी शब्दों को हिन्दी-कोष में जोड़ दिया जाय, बल्कि जो शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं उनको बहिष्कृत नहीं किया जाय। जो अरबी-फ़ारसी के शब्द गुजराती, मराठी, बंगाली, पंजाबी और दक्षिण की भाषाओं में आ गए हैं और उनके ठीक पर्यायवाची शब्द हिन्दी में नहीं मिलते हैं उनको भी हिन्दी में ले लिया जाय। इसके अतिरिक्त ऐसे नये शब्दों को भी, जो नये भावों को व्यक्त करते हैं, लेने में हिचकना नहीं चाहिए। उदाहरणार्थ, मुग़ल बादशाही के ज़माने से ही कचहरियों में महकमा माल के और शासन-सम्बन्धी बहुतेरे शब्द हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं। यदि उनके पर्यायवाची संस्कृत-शब्द हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं और सुगमता-पूर्वक समझे नहीं जा सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि उनको न रखा जाय और इनके स्थान पर संस्कृत के शब्द धर्म-शास्त्रों से खोजकर निकाले जायें। एक बहुत छोटा पर अर्थपूर्ण शब्द 'शर्त' है। किसी भी हिन्दी जानने वाले को इसके समझने में कठिनाई नहीं होती है और इस अर्थ का द्योतक दूसरा शब्द संस्कृत से खोजकर निकाला जाय, तो वह 'मुखमार्जन वस्त्र-खण्ड'-जैसा लम्बा न भी हो तो भी समझने में तो उतना ही कठिन होगा। ऐसा प्रयत्न मेरी समझ में व्यर्थ परिश्रम है जो इससे बेहतर काम में लगाया जा सकता है। यह पंडितों और विद्वानों का काम है कि ऐसा संग्रह तैयार करें जिसमें इस प्रकार के सभी शब्दों का समावेश हो जाय।

अँगरेज़ी राज्य में बहुत से अँगरेज़ी शब्द भी प्रचलित होते जा रहे हैं। ट्रेन, स्टेशन, टाइम, प्लेटफ़ार्म, टिकट, लालटेन, डिब्बी इत्यादि बहुतेरे शब्दों का जो आ चुके हैं और आते जा रहे हैं, बहिष्कार करके ट्रेन के स्थान पर 'लौहपथचालित वाष्पयान' और 'प्लॉटफ़ार्म' की जगह 'लौहपथ-चलित वाष्पयान स्थापन-स्थल' कहने में समय और लिखने में समय और स्थान की ही हानि नहीं है, उन नव-गढ़न्त शब्दों के अर्थ निकालना भी कम कठिन नहीं है। इसलिए ऐसे प्रचलित विदेशी शब्दों को रखना और नये शब्दों को ले लेना ही सुगम है। यदि हम टिकट की हिन्दी 'मूल्य पत्रिका' बनायें और स्टेशन पर माँगें तो वह मिलेगा भी नहीं। प्रान्तीय भाषाओं में

ऐसे बहुत से शब्द है जिन के अर्थ बहुत सुन्दर और सुगम है। यदि वे आज हिन्दी में प्रचलित नहीं है तो इनको भी अपनाना हमारा काम है, जिस तरह हमने 'लागू', 'चालू' 'बाजू' आदि शब्दों को अपना लिया है उसी तरह इस दिशा में हमारे प्रयत्न और अधिक होने चाहिएँ।

विशेष करके जब नये राजनीतिक और वैज्ञानिक शब्द सभी भारतीय भाषाओं में गढ़े जा रहे है तब बहुत अच्छा हो अगर सभी भाषाओं में नये शब्द यथा-साध्य एक ही होवे। जैसे, कौन्सिलों के लिए 'धारा-सभा' 'व्यवस्थापिका-सभा' इत्यादि कितने ही शब्द काम में लाये जाते हैं। जनता को सुगमता और हिन्दी-प्रचार में सुविधा हो यदि सभी भारतीय भाषाओं में उस प्रकार के शब्द एक ही हो जायें। इसमें कोई कठिनाई भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ये सभी शब्द नये हे और हाल मे गढ़े गए हैं। यदि हिन्दी तथा सभी प्रान्तीय भाषाओं के विद्वान् मिलकर ऐसे नये शब्दों की जगह एक ही शब्द प्रचलित करे और सभी समाचार-पत्र उनका व्यवहार करने लगें, तो वे शीघ्र ही स्वीकृत हो जायँगे।

शब्दों का एक और खज़ाना है जिससे हम हिन्दी की शब्दावली बढ़ा सकते है। और वह खज़ाना ग्राम्य बोली मे प्रचलित शब्दों का है। इनमे बहुत से ऐसे शब्द है जिनका अर्थ सुन्दर और व्यापक है और जिनके ठीक पर्यायवाची शब्द सुसंस्कृत हिन्दी मे बहुत करके नहीं मिलते हैं। घरों में व्यवहार की जितनी चीज़ें हुआ करती है इन सबके लिए शब्द है। गाँवों में खेती के जितने सामान है, बुनाई-कताई के जितने यन्त्र है, सबके एक-एक अंग के लिए अलग-अलग नाम प्रचलित है। डॉक्टर ग्रियर्सन की 'Bihar Peasant Life' नामक पुस्तक मे इस प्रकार चरखे के प्रत्येक अंग का नाम दिया हुआ है। हम अगर कपड़े के पुतलीघर मे जाकर देखें तो हमें पता लगेगा कि वहाँ भी बुनाई का प्रायः वही तरीक़ा है जो किसी भी बुनकर के घर में हम देखते है। केवल एक के स्थान पर बहुतेरे पुर्जे काम करते है और उनको मनुष्य न चलाकर भाप अथवा बिजली चलाती है। ऐसी अवस्था मे हम अपने पुराने शब्दों को ही क्यों न व्यवहार मे लायें? अँगरेज़ी में बहुतेरे पुराने शब्द नये यन्त्रों के लिए आज भी व्यवहार मे आते हैं।

ग्रामीण भाषा में नये शब्द गढ़ने की भी अच्छी शक्ति है। रूमाल, ट्रेन, प्लेटफार्म के लिए मैंने सुसंस्कृत हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों का उदाहरण रूप दिया। ग्रामीण भाषा मे मोटरकार के लिए हवागाड़ी, बायसिकल के लिए पैरगाड़ी, मैचिस के लिए दियासलाई, रेलवे सिगनल के लिए सिकन्दर, लोफ़ के लिए पाव रोटी इत्यादि कितने ही बहुत से अच्छे शब्द बन गए है जो अब पुस्तकों में भी काम में लाये जा रहे है। इतना ही नहीं संज्ञाओं से क्रिया और क्रिया से संज्ञा बना देने की भी जितनी

शक्ति इन ग्रामीण बोलियों में है उतनी हमारी पुस्तकों की भाषा में आज नहीं पाई जाती। यही कारण है कि आवश्यकता पड़ने पर उन बोलियों में शब्दों का अभाव नहीं रहता है। गाँवों के लोग जरूरत पड़ते ही शब्द बना भी लेते हैं। जैसे लोटने से लोटास, बकने से बकवास साबुन से सबुनाना, मिट्टी से मटियाना, पानी से पनियाना, गुस्सा से गुस्साना, धक्के से धकियाना, शर्म से शर्माना, घृणा से घिनाना आदि। जरूरत पड़ने पर अपनी पुस्तकों की भाषा में भी इन शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। यद्यपि हमारे यहाँ भी कुछ आचार्यों ने ऐसा प्रयत्न किया है। जैसे :

'और जो नारी स्वामी को निन्दती है' (पं० सदल मिश्र 'नासिकेतोपाख्यान') 'अरब का ऊंट किस तरह जुगालता है,' (पं० पद्मसिंह शर्मा, 'पद्म पराग') "तिय कित कमनैती पढ़ी, बिन जिह भौंह कमान" (बिहारीलाल) इनमें निन्दा से 'निन्दती' जुगाली से 'जुगालती' कमान से 'कमनैती' शब्द बनाये गए हैं। लेकिन ऐसे प्रयत्न इतने कम हुए हैं और यह व्यवहार में इतने कम लाए गए हैं कि वह नहीं के बराबर हैं।

देहाती बोलियों की शक्ति केवल क्रियाओं और संज्ञाओं तक ही सीमाबद्ध नहीं है। कहावतों और मुहावरों पर ख़याल दौड़ाने से भी उनकी शक्ति का पता चलता है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि आज हिन्दी में जिन कहावतों का प्रचार है उनमें अधिकांश देहात की ही हैं और हमारी सुसंस्कृत हिन्दी, अँगरेज़ी या दूसरी भाषाओं की कहावतों या मुहावरों के अनुवाद को अपनाने के अलावा, अपनी नई कहावतें या मुहावरे निर्माण करने में बहुत कम समर्थ हुई है। इस ओर भी हम लोगों का ध्यान जाना चाहिए।

साथ ही, अपने देशवासियों के दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नये शब्दों के रचने या प्रचलित शब्दों के अपनाने में पूरी दिलचस्पी न दिखलाने से भी हम न तो हिन्दी को पूर्ण रूप से राष्ट्र-भाषा बना सकेंगे और न भावों को व्यक्त कर सकने की क्षमता की दौड़ में ही सफल हो सकेंगे।

मैं चाहता हूँ कि हिन्दी को व्यापक और सर्वदेशीय भाषा 'राष्ट्र-भाषा' बनाने के लिए उसकी शब्दावली बढ़ाई जाय और इसमें संकोच और संकीर्णता न करके जहाँ से ऐसे अच्छे शब्द मिल सकें, जिनका सुगमता से प्रचार हो सकता हो, हम ले लेंगे। तभी यह भाषा हिन्दुस्तान-भर की राष्ट्रीय भाषा होने का दावा साबित कर सकेगी। सभी प्रचलित भाषाएँ इसी प्रकार से उन्नति करती हैं। और यही रास्ता है जिस पर चलकर हिन्दी अपना नाम सार्थक कर सकेगी। ऐसा होने से हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भी बहुत अंशों में मिट जायगा और यदि उर्दू केवल फ़ारसी-अरबी की ओर ही अपनी दृष्टि रखकर दूसरे शब्दों का बहिष्कार करेगी, तो उसकी उन्नति

का स्रोत सूख जायगा और वह संकुचित भाषा बन जायगी। यदि हिन्दी ने भी इस घातक नीति का अवलम्बन किया तो उसकी उन्नति का स्रोत भी उसी प्रकार सूख जायगा और वह हजार प्रयत्नों से भी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकेगी।

यह हम मानते हैं कि भाषा का गठन किसी एक आदमी अथवा संस्था द्वारा नहीं किया जा सकता है, और न उसका रूप ही बदल दिया जा सकता है। तो भी यह निर्विवाद है कि यदि किसी भाषा के सभी लेखक और विद्वान् उसमें परिवर्तन चाहें तो बहुत अंशों में वे सफल भी हो सकते हैं। सभी भाषाओं के इतिहास में इस प्रकार के प्रतिभाशाली लेखक हो गए हैं, जिन्होंने उस भाषा के प्रवाह को मोड़ कर उसका रुख बदल दिया है, और आज यदि कोई एक-दो ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष हम में न भी हों तो सभी विद्वानों की मंडली तो इस काम को कर ही सकती है। इसलिए आप विद्वानों से निवेदन है कि आप इस पर विचार करें और यदि ये बातें जँचें तो इनके अनुसार काम करने का प्रयत्न करें।

भाषा में शब्दों के अतिरिक्त व्याकरण का भी बहुत बड़ा प्रभाव होता है। शब्दावली बदल देने पर भी यदि व्याकरण और वाक्-शैली न बदली जाय तो भाषा का रूप नहीं बदलता। उसकी शब्दावली का हेर-फेर और शब्द-कोष की वृद्धि आसान है पर व्याकरण का बदलना बहुत कठिन है। जो भाषा बोली जाती है उसका व्याकरण बदलता रहता है और उसके व्याकरण के नियम इतने कड़े और अचल नहीं हो सकते कि उनको बदलना असंभव हो जाय। आज अँगरेजी के किसी भी अच्छे लेखक की पुस्तकें आप उठाकर पढ़ें और व्याकरण में दिये हुए नियमों के अनुसार उनको शोधें, तो उनमें बहुतेरे ऐसे वाक्य मिलेंगे जिनको व्याकरण के नियमों के अनुसार अशुद्ध कहना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि वाक्य अशुद्ध हैं अथवा व्याकरण के नियम में ही भूल है। जब तक भाषा बोली जाती है और दिन-दिन उन्नति करती जाती है, व्याकरण और प्रतिभाशाली लेखकों में इस तरह का द्वंद्व चलता ही रहता है। संस्कृत में शुद्ध और अशुद्ध वाक्यों का निर्णय आज सहज है, क्योंकि उनकी जाँच आचार्यों के सूत्रों के आधार पर ही हो सकती है। हम मानते हैं कि हिन्दी को यदि जीती-जागती, प्रचार की राष्ट्र-भाषा रखना और बनाना है तो उसके व्याकरण के नियम भी सूत्रबद्ध नहीं हो सकते और यदि ऐसा प्रयत्न किया जायगा तो या तो भाषा की प्रगति रुक जायगी अथवा नियमों से भी अधिक संख्या अपवादों की हो जायगी।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई नियम होना ही नहीं चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि नियमों में समय और स्थिति के अनुसार परिवर्तन की जरूरत है और उनको सुगम बनाना आवश्यक है। सुगम बनाने में एक बात पर ध्यान रखना

जरूरी है और वह यह कि जो हिन्दी नहीं जानते उनको तीन-चार नियमों के कारण बहुत कठिनाई पड़ती है। लिंग-भेद वे नहीं समझ सकते हैं। और, सच पूछिए तो हिन्दी भाषा भी नहीं समझ सकते। जो हिन्दी के पुराने शब्द हैं और जिनका लिंग स्थिर हो गया है उनकी बात छोड़ दीजिए, यद्यपि पुराने साहित्य में भी एक ही शब्द दोनों प्रकार से व्यवहृत हुआ है। इतना ही नहीं, आज भी कभी-कभी हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक भी भ्रम में पड़ जाते हैं जैसे 'ओर' शब्द साधारणतः स्त्रीलिंग ही माना जाता है, लेकिन हिन्दी के एक बहुत बड़े लेखक ने अपनी एक कहानी में लिखा है : "घटना-चक्र उसे दूसरे ही ओर ले जाता है।"

नये शब्द जो लिये जा रहे हैं उनके लिए कोई सुगम नियम बनाना आसान है। आज नियम नहीं है। लिखने वाले, विशेषकर समाचार-पत्रों के सम्पादक, जिसको चाहें स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिंग बना देते हैं। कुनैन, लालटेन, मोटर, कांग्रेस और कान्फ्रेंस को क्यों स्त्रीलिंग बना दिया गया? इसका कोई माक़ूल कारण नहीं है। और उर्दू के पुल्लिंग 'क़लम' और 'चर्चा' हिन्दी में आते ही क्यों स्त्रीलिंग हो गए? अथवा हिन्दी का स्त्रीलिंग 'कलम' और 'चर्चा' उर्दू में पहुँचते ही कैसे पुल्लिंग बन गई? इसका भी कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है। यह कहना कि उनके पर्यायवाची शब्द—जैसे सभा, समिति और लेखनी आदि—स्त्रीलिंग है काफ़ी नहीं है और न संस्कृत के आधार पर ही इन शब्दों का लिंग निश्चित हो सकता है। 'अग्नि' और 'आत्मा' संस्कृत में पुल्लिंग हैं, पर हिन्दी में स्त्रीलिंग में ही उन शब्दों का व्यवहार होता है। जो बे-जान चीज़ें हैं उनके लिंग-निर्णय में बहुत गड़बड़ी मचती है और जो हिन्दी-भाषा नहीं जानते, मुश्किल में पड़ जाते हैं। लिंग-निर्णय के जो नियम हैं, वे इतने व्यापक नहीं हैं कि सभी शब्दों पर लागू हो सकें और आज जब नित नये शब्द आ रहे हैं तब नये शब्दों पर उन नियमों को लागू करना नियमों और शब्दों दोनों के साथ अन्याय करना है। यदि सभी बे-जान शब्दों के लिए कुछ ऐसे सुगम और सहज नियम बना दिये जायँ, जिनको जानने के लिए समाचार-पत्रों और लेखकों की शरण न लेनी पड़े, तो हिन्दी-प्रचार के रास्ते से एक भारी बाधा उठ जाय।

'ने' के व्यवहार में भी बहुत कठिनाई पड़ती है। पंजाब में 'ने' का व्यवहार अलग है और हिन्दी लिखने वाले उसे समझते और जानते हैं। पर उसके अतिरिक्त भी बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। विद्वानों के सामने एक वाक्य रखता हूँ और जानना चाहता हूँ कि यह वाक्य शुद्ध है या नहीं। "परन्तु इस विद्या की जैसी उन्नति हमारे प्रातःस्मरणीय भारतीय विद्वानों ने अति प्राचीन काल से ही की हुई है, उसकी तुलना में संसार की एक भी भाषा नहीं दिखती कि जो भारतीय ऋषियों की प्यारी संस्कृत भाषा की किसी अंश में भी बराबरी कर सके।" यदि यह वाक्य शुद्ध है तो नियमों

में कुछ परिवर्तन की ज़रूरत है और यदि यह अशुद्ध है तो बड़े-से-बड़े विद्वान् भी 'ने' के, शुद्ध उपयोग को नहीं समझ पाये है, यह मानना होगा। ऐसी हालत में साधारण पाठकों और नौसिखुओं की दिक्क़त का अन्दाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है। और, हम समझ सकते है कि क्यों हमारे उड़िया मित्र श्री गोपबन्धु चौधरी और श्री रमा देवी ने 'ने' का प्रयोग उठाने की सलाह दी है।

उसी प्रकार बहुत कठिनाई इससे भी अनुभव होती है कि कब क्रिया का वचन कर्म के अनुसार होना चाहिए और कब कर्त्ता के अनुसार। अहिन्दी प्रदेशों के रहने वाले ही नहीं, हिन्दी-भाषी भी कभी-कभी मुश्किल में पड़ जाते हैं। इसके अलावा इस सम्बन्ध में और भी दिक्क़तें होती है। जैसे पं० ज्वालादत्त जी शर्मा ने 'विधवा' नामक कहानी में लिखा है: "उन्होंने पहले तो हाँ हूं की।" इसमें स्त्रीलिंग क्रिया के लिए कौन सा स्त्रीलिंग कर्म है, यह समझ नहीं पड़ता।

संज्ञाओं का वचन भी कभी-कभी हमको गड़बड़ी में डाल देता है। जैसे—'आठ ऊँट आये' और 'आठ ऊँटों को वह साथ लाया।' दोनों वाक्यों में 'ऊँट' शब्द बहु वचन में आया है; पर एक स्थान में 'ऊँट' का बहु वचन 'ऊँट' ही है और दूसरे में 'ऊँटों' है। इस प्रकार के बहुतेरे उदाहरण मिलेंगे जिनके सम्बन्ध में नियम होने पर भी वे ऐसे नियम है जिनका समझना और शुद्ध व्यवहार करना कठिन होता है।

हिन्दी लिखने की शैली भी भिन्न-भिन्न लेखकों की भिन्न-भिन्न है। एक ही शब्द का विवरण (Spelling) कई प्रकार का हो जाता है। अहिन्दी-प्रदेश में एक ही शब्द के दो रूप देखकर लोग अचम्भे में पड़ जाते है, और घबराते है; क्योंकि उसका दूसरा रूप देखकर वे समझ बैठते है कि शायद यह दूसरा ही शब्द है। यद्यपि यह दोष बहुत व्यापक नहीं है तथापि इसका दूर होना आवश्यक है। जैसे 'लिए' और 'लिये' 'चाहिए' और 'चाहिये' 'आई' और 'आयी' 'गई' और 'गयी'; इतना ही नहीं, 'भूक', और 'भूख', 'सबी' और 'सभी', 'धोका' और 'धोखा' आदि। इसके अतिरिक्त कुछ अव्यय तथा अन्य शब्दों के व्यवहार में भी उनके स्थान के सम्बन्ध में गड़बड़ी चलती है। जैसे 'ही' को ही ले लीजिए। कुछ लोग लिखते हैं, 'आप ही के लिए तो है' और और कुछ लोग लिखते हैं 'आपके ही लिए तो है'; इन दोनों में कौन शुद्ध है?

ऐसा भी देखने में आया है कि कुछ लेखक प्रचलित शब्दों का संस्कृत-रूप देकर समझते हैं कि वे हिन्दी को शुद्ध बना रहे हैं। उसी तरह फ़ारसीदाँ सज्जन फ़ारसी शब्दों का शुद्ध फ़ारसी रूप बना देना उचित मानते हैं। यह विचार करने योग्य बात है कि हिन्दी में जो शब्द आ गए हैं वे हिन्दी हो गए है फिर भी यहाँ संस्कृत वा फ़ारसी बने रहते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में आकर भी अँगरेज़ अँगरेज़ ही बने

हैं। यदि ऐसा होगा तो हो सकता है कि उनकी भी वही दशा हो, जो उन विदेशियों की होगी जो अपना विदेशीपन नहीं छोड़ते।

हिन्दी की लिपि के सम्बन्ध में विचार करने के लिए आपने एक समिति बनाई है। वह इस विषय पर विचार कर रही है और अपनी सम्मति आपके सामने रखेगी। उस पर आप विचार करेंगे ही। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लिपि-निर्माण में शुद्धता-पूर्वक शब्दों के लिखे जाने और लिखे शब्दों के ठीक-ठीक उच्चारण हो सकने के अतिरिक्त इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि तेज़ी के साथ भी यह लिपि लिखी जा सके और छापे में तथा टाइप करने में कम-से-कम स्थान लगे और कम-से-कम कठिनाई उपस्थित हो। मुझे विश्वास है कि समिति ने इन सब पर विचार किया है और उसके विचारों को आप वही महत्त्व देंगे जिसके वे अधिकारी होंगे। हमें इस विषय में प्रान्तीय भाषाओं के विद्वानों से भी सहायता लेनी पड़ेगी—विशेषकर मराठी के विद्वानों से; क्योंकि हिन्दी और मराठी एक ही लिपि में लिखी जाती हैं, और जो कुछ कठिनाइयाँ हिन्दी-लिपि के सामने हैं वही मराठी को भी सताती होंगी, और जो निपटारा उन कठिनाइयों का हम एक के लिए करेंगे वह दोनों के लिए लागू होगा।

मैंने ऐसे प्रश्नों को आपके सामने उपस्थित किया है जिन पर प्रचार की दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इतने बड़े सम्मेलन में और एक-दो दिन की बैठक में उतने गहन विषयों पर समुचित विचार होना असम्भव है। इसलिए अच्छा हो अगर आप विद्वानों की एक ऐसी समिति बना दें जो भाषा की शुद्धता, भाषा-विज्ञान के नियमों और हिन्दी-प्रचार पर दृष्टि रखते हुए इनका निपटारा करें, और अपनी रिपोर्ट देश और विशेषकर हिन्दी-भाषियों और विद्वानों के सामने रखें, और उनकी सम्मति पर अन्त में इस अधिकारी संस्था द्वारा जो परिवर्तन या संशोधन उचित माने जायँ वे स्वीकृत होकर हिन्दी-भाषियों और हिन्दी-प्रेमियों के लिए सर्वमान्य रूप में उपस्थित किये जा सकें। यदि आप समझें कि एक समिति से सब काम पूरा नहीं हो सकता, तो शब्द-संग्रह और विवरण के लिए एक अलग समिति बना दीजिए और व्याकरण-संशोधन के लिए दूसरी समिति बनाई जाय। मैं जहाँ तक देख सकता हूँ दोनों के लिए काफ़ी काम होगा।

शब्द-संग्रह-समिति के लिए प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली का—गाँवों में प्रचलित कार-बार, देहाती कला, खेती इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाले अनगिनत शब्दों का—ख़ज़ाना भरा पड़ा है। फ़ारसी, अरबी, तुर्की, अँगरेज़ी आदि के ऐसे शब्दों का—जो प्रचलित हो गए हैं अथवा हो रहे हैं अथवा जिन्हें हो जाना चाहिए—बहुत बड़ा क्षेत्र है। मैं समझता हूँ कि कि मामूली कार-बार में प्रायः दो-ढाई हज़ार शब्द काम

में आते हैं। पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दों को छोड़कर रोजमर्रा के काम मे इससे अधिक शब्द शायद हम व्यवहार में नहीं लाते हैं। क्या यह असम्भव है कि एक ऐसा छोटा कोष बनाया जाय जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के ऐसे शब्दों का समावेश हो जाय। हम इस चीज़ को भूल नहीं सकते कि हिन्दी और उर्दू दोनों हिन्दुस्तान में हैं और रहेंगी भी। ऐसी अवस्था मे हिन्दी जानने वाले को साधारण उर्दू-शब्दों का और उर्दू जानने वालों को हिन्दी-शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है और इस ज्ञान के बढ़ाने में इस प्रकार का कोष बहुत बड़ा काम देने वाला होगा। इसलिए शब्द-संग्रह समिति इस काम को हाथ में ले ले तो बड़ा उपकार हो। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं से भी अच्छे शब्दों को ले लेना अच्छा होगा। अँगरेज़ी का एक बहुत साधारण शब्द 'नोट' (Note) है। हिन्दी में उसका ठीक पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता, पर मराठी, गुजराती तथा अन्य कई भाषाओं में उसका पर्यायवाची शब्द 'नोंद' आता है। हम क्यों न इसे हिन्दी में चला लें ? इस प्रकार के बहुतेरे शब्द हैं। समिति उनकी खोज करे और यथासाध्य उनको हिन्दी में स्थान दे।

व्याकरण वाली समिति उपरोक्त प्रश्नों के अतिरिक्त और प्रश्नों पर दृष्टि डाले कि हिन्दी सुगम-साध्य भाषा बने, जिससे अन्य प्रान्तों में उसका प्रचार शीघ्रतापूर्वक हो सके।

मैंने इतने समय तक हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से हिन्दी-भाषा की त्रुटियों को दूर करने पर ही विचार किया है, साहित्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। उसका कारण भी है। मैं साहित्य का अधिकारी नहीं हूँ, पर इतना तो उस अधिकार के बिना भी कह देना अनुचित न होगा कि जिस समय मैं स्कूल-कालेज में पढ़ रहा था, उस समय की और आज की अवस्था में बहुत अन्तर पड़ गया है। अब हिन्दी को यूनिवर्सिटियों की उच्च कक्षाओं में भी स्थान मिल गया है और हिन्दी के विद्वान् प्रायः सभी विषयों पर पुस्तकें लिख रहे हैं। पर अभी तक यह नहीं हुआ है कि अन्वेषक और लेखक अपने मूल ग्रन्थों और लेखों को हिन्दी में लिखें और जिनको उस विषय का ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट हो वे उनके मूल ग्रन्थों के लिए हिन्दी-भाषा सीखें। मैं समझता हूँ कि लेखकों को अभी तक यह विश्वास नहीं होता है कि उनके मूल लेखों के क़दरदान हिन्दी-भाषियों में हैं। यह संदेह कुछ अंशों में निर्मूल भी नहीं है; इसलिए ऐसे गहन ग्रन्थों के पढ़ने की रुचि हमको पैदा करनी है। किसी भी रेलवे-स्टेशन पर आप जाकर देखें तो हिन्दी की कुछ सुन्दर जिल्द वाली और बहुत दाम-वाली पुस्तकें देखने में आयेंगी; पर वे किसी गंभीर विषय की पुस्तकें नहीं रहतीं और न उच्चकोटि के साहित्य में ही उनकी गिनती हो सकती है। उपन्यास होने से ही पुस्तक उच्चकोटि की नहीं हो सकती, यह बात नहीं है। उपन्यास के रूप में फ्रेंच,

बँगला और हिन्दी में भी कुछ सुन्दर ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। पर अधिकांश पुस्तकें ऐसी होती हैं जो समय और पैसे का अपव्यय कराने के अलावा मनुष्य-चरित्र को भी दूषित करने से बाज़ नहीं आतीं। यह तो सस्ते मुद्रण का एक अनिवार्य फल है। पर विद्वानों का काम है कि जनता की रुचि बदले। इसमें निर्भीक और निस्पृह समालोचक बड़ी सेवा कर सकते हैं। हिन्दी-साहित्य उतनी उन्नति नहीं कर रहा है जितनी होनी चाहिए। इसलिए साहित्य और साहित्यिक नियमों के साथ पूर्ण परिचय के अतिरिक्त समालोचक में यह गुण भी अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्य को पहचाने। न किसी के साथ द्वेष करे और न किसी के साथ पक्षपात। उसका कर्तव्य है कि सच्चे साहित्य के निर्माण में लेखकों का सहायक हो और इस कर्तव्य का ठीक वैसे ही पालन करे जैसे कोई भी पहरेदार धन-जन की रक्षा करता है। मानव-चरित्र पर साहित्य का सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है और सच्चा समालोचक वह पहरेदार है जो इस मानव-चरित्र की रक्षा करता है। वह उस मानव-चरित्र की रक्षा करता है जो धन से और मनुष्य-जीवन से भी अधिक क़ीमती होता है, क्योंकि चरित्र न रहा तो जीवन बेकार है। जब समालोचक का इतना महत्त्व पहरेदार की हैसियत से है, तो आप समझ सकते हैं कि साहित्य-निर्माता का कितना अधिक महत्त्व है। वह दूसरे के पैदा किये हुए धन की रक्षा-मात्र नहीं करता, वह तो स्वयं धन भी पैदा करता है। स्वयं अपनी वाणी और लेखनी से मानव-जाति का चरित्र-गठन करता है और उसका प्रभाव उसके मरने के बाद भी शेष रहता है, इसलिए साहित्य-निर्माण प्रत्येक ऐसे स्त्री या पुरुष का काम नहीं है जो व्याकरण के अनुसार शुद्ध वाक्य लिख सकते हों, न वह ऐसे लोगों का ही काम है जो बड़े-बड़े लच्छेदार शब्दों का आडम्बर बनाकर लोगों को मोहित कर लें। सच्चे साहित्य का एक ही माप है। चाहे उसमें रस कोई भी हो, पर यदि वह मानव-जाति को ऊपर ले जाता हो, तो सच्चा साहित्य है और यदि उसका प्रभाव इससे उलटा पड़ता हो, तो चाहे जैसी भी सुन्दर और ललित भाषा में क्यों न हो, वह ग्राह्य नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सच्चे साहित्य के निर्माण में वही सफल हो सकता है जिसने तपस्या और संयम से अपने को इसके योग्य बनाया हो। पैसे कमाने के लिए अथवा किसी प्रकाशक की आज्ञा से समय पर कापी पहुँचाने वाले ऐसा साहित्य नहीं बना सकते। इसके लिए एक प्रकार की दैवी शक्ति चाहिए, जो पूर्व-संस्कार और इस जन्म की तपस्या और समय का ही फल हो सकती है।

ये बातें सभी प्रकार के साहित्य पर लागू हैं। क्या कोई आदमी विज्ञान का कोई मौलिक ग्रंथ उस तपस्या या योग के बिना लिख सकता है, जो बड़े-बड़े वैज्ञानिक दिन-रात प्रयोगशाला में बैठे-बैठे करते रहते हैं? कोई भी पुरातत्त्व का पंडित क्या नया ग्रन्थ लिख सकता है—जिसने अपने जीवन को पुस्तकालयों और संग्रहालयों में

बिताने का निश्चय न कर लिया हो ? दर्शन-शास्त्र-वेत्ता की स्थिति और भी विकट है । केवल ग्रन्थों को पढ़कर शुद्ध तत्त्व-ज्ञान पाना कठिन है । हमारे प्राचीन उपनिषदों और आज के दार्शनिक ग्रन्थों में बहुत बड़ा अन्तर यह पड़ता है कि उपनिषदों के गर्भ में जीवन का अनुभव भरा पड़ा है और आधुनिक दर्शन में मस्तिष्क का चमत्कार । अनुभूति और मस्तिष्क-चमत्कार में उतना ही भेद है जितना मधु के सुन्दर वर्णन में और उसके चखने में । इसलिए चाहे जिस प्रकार के ग्रन्थ क्यों न लिखे जायं, यदि वे अनुभूति और जीवन की गहराई से निकले हैं, तो उनकी कीमत है और उनमें ओज और प्रभाव है । यदि वे चमत्कार-मात्र हैं तो उन्हें केवल वागाडम्बर ही मानना चाहिए । इस कसौटी पर अपने आधुनिक साहित्य को कसा जाय, तो थोड़े ही ग्रन्थ खरे निकलेंगे । यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास आज भी प्रिय हैं और करोड़ों के जीवन-सुधार में प्रेरक होते हैं । उनके पदों में एक प्रकार का आनन्द है, जो दूसरों की रचनाओं में शीघ्र ही नहीं मिलता । इसलिए कविता और दूसरे प्रकार के साहित्य का निर्माण करने वालों से यही सविनय निवेदन है कि यह उनका धर्म है कि युग और समय के अनुसार सच्चे साहित्य का निर्माण करें । जातीय जीवन की झलक साहित्य में आनी चाहिए, हमारी भावनाओं और उमंगों को साहित्य में प्रतिबिम्बित होना चाहिए । हमारी उम्मीदें, अभिलाषाएँ और उच्चाकांक्षाएं साहित्य में प्रदर्शित होनी चाहिएँ और उनको साहित्य में पुष्टि भी मिलनी चाहिए । इतनी अनधिकार चर्चा के लिए क्षमा चाहता हुआ दूसरे प्रश्नों की ओर आपका ध्यान खींचता हूँ, जिनका सम्बन्ध भी इसी चरित्र-गठन के साथ है ।

आज सिनेमा और रेडियो गांव-गाँव में पहुँचने की आशा कर रहे हैं । आधुनिक विज्ञान के दो पहलू हैं । उसी प्रयोगशाला 'में' जहरीली गैस भी तैयार होती है, जहाँ भयंकर-से-भयंकर बीमारियों के लिए औषधियों का आविष्कार होता है । जहाँ घातक यंत्र बनते हैं, वहीं मनुष्य के आराम और विलास के सामान भी तैयार किये जाते हैं । ऐसे ही आविष्कारों में सिनेमा और रेडियो भी हैं । 'पातंजल-योग-सूत्र' में सिद्धि की बातों के साथ यम-नियम भी बताये गए हैं । शक्ति-उपार्जन अच्छा है, पर शक्ति का सद्व्यवहार उससे भी अच्छा है । आज सिनेमा में बहुत करके ऐसे ही चित्र दिखलाये जाते हैं जिनका प्रभाव अच्छा न होकर बुरा ही होना संभव है । हिन्दी में नाटक का, जितना चाहिए, प्रचार नहीं हुआ था—जब सिनेमा आ गया, और अब शायद नाटक के लिए स्थान भी नहीं है । इसलिए सिनेमा को यदि नहीं सुधारा जायगा, तो समाज को बड़ा धक्का लगने वाला है । राष्ट्रीय भनक होते ही सिनेमा की तसवीरें रोक दी जाती हैं, पर चरित्र को दूषित करने वाले चित्र चलते ही रहते हैं । समाचार-पत्रों को इनसे पैसे मिलते हैं और इसलिए जहाँ देखिए

वहीं सिनेमा की तस्वीरें और उन पर लेख भरे पड़े रहते हैं। विद्वानों—विशेषकर के समाचार पत्रों—का काम है कि उनका सुधार करायें और लोक-मत इस प्रकार जाग्रत करें कि यथासाध्य बुराइयाँ दूर हो सकें।

यह संतोष की बात है कि हिन्दी अब प्रायः उत्तर-भारत की सभी यूनिवर्सिटियों में उच्च कक्षा की परीक्षाओं तक स्थान पा चुकी है, पर उसके पढ़ाने का प्रबन्ध सभी स्थानों में नहीं है। इसके लिए अधिकारियों और प्रतिनिधियों पर ज़ोर डालना मुनासिब है; क्योंकि जब तक पढ़ाने का सिलसिला नहीं होगा, तब तक यह काम पूरा नहीं हो सकेगा। साथ ही, गाँवों में छोटे-छोटे पुस्तकालयों का होना आवश्यक है। यदि हिन्दी के विद्वान् सौ से दो सौ तक ऐसी पुस्तकों की एक फ़ेहरिस्त तैयार कर लेते, जो प्राचीन और आधुनिक विद्या का मामूली ज्ञान गाँवों में फैला सकतीं और जिनकी क़ीमत गाँव वालों की औक़ात से अधिक न होती, तो इस प्रकार के बहुत पुस्तकालय खुल जाते। मैंने देखा है कि बहुत स्थानों में लोग उत्साह में पुस्तकालय खोलते तो हैं; पर उनको इसका ज्ञान नहीं होता कि कौन सी पुस्तकें वहाँ रखी जायें, और बहुत सी ऐसी पुस्तकें वहाँ पहुँच जाती हैं जिनका न रहना ही अच्छा होता। विज्ञापन पुस्तकों की बिक्री में भी वही काम देता है जो दूसरी चीज़ों की बिक्री में, और आज की दुनिया में विज्ञापन ने भले-बुरे की पहचान बहुत ही कठिन बना दी है। इसलिए थोड़े पैसे वाले उत्साही लोगों की सहायतार्थ यह फ़ेहरिस्त तैयार होनी चाहिए और प्रतिवर्ष संशोधन करके उसकी नई आवृत्ति सम्मेलन की ओर से छपे तो और भी सुन्दर है।

सम्मेलन ने परीक्षाओं द्वारा हिन्दी-प्रचार में बहुत बड़ा काम किया है। इन परीक्षाओं से केवल प्रचार ही नहीं, पर हिन्दी के पठन-पाठन में भी बहुत सहायता मिली है। परीक्षाओं को अधिक उपयोगी और लोकप्रिय बनाने लिए हिन्दी के आधुनिक रूप को बताने वाली पुस्तकों को ही प्रारम्भि परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में स्थान मिलना चाहिए। जिनको भाषा-विज्ञान और हिन्दी के विभिन्न रूपों या प्राचीन साहित्य से परिचय प्राप्त करना हो उनके लिए अवधी, व्रज-भाषा, बुन्देलखण्डी इत्यादि के नमूने प्रारम्भिक परीक्षाओं में भी ऐच्छिक विषय के रूप में रख दिये जायँ और उनका विशेष अध्ययन उच्च कक्षाओं में हो। आरम्भ में ही हिन्दी के कई रूप दिखलाकर नौसिखुओं को डरा देना और उनके समय का अपव्यय कराना उचित नहीं मालूम होता। इन परीक्षाओं का जारी रहना आवश्यक है; पर पच्चीस बरसों के बाद भी यदि हम केवल परीक्षा ही लें और हिन्दी पढ़ाने के लिए एक भी बड़ा विद्यालय न बनायें जिसमें अच्छा पुस्तकालय और अच्छे विद्वान् शिक्षक हों, तो यह हमारे लिए शर्म की बात है। इस सम्बन्ध में यह जानकर सभी हिन्दी-प्रेमियों को हर्ष हुआ होगा कि हिन्दी और

सम्मेलन के प्रसिद्ध सेवक श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टंडन तथा दूसरे मित्रों के प्रयत्न से प्रयाग में 'हिन्दी-संग्रहालय' का निर्माण हुआ है और उसका उद्घाटन हाल ही में महात्मा गांधी जी के हाथों से कराया गया है। उद्घाटन तो हो गया है, पर अभी तक संग्रहालय में पुस्तकों और अन्य वस्तुओं का संग्रह कम ही हुआ है। हमारा कर्तव्य है कि इस संग्रहालय को शीघ्र राष्ट्र-भाषा का एक केन्द्रीय संग्रहालय बना दें, जहाँ पर केवल एक सर्वांगपूर्ण हिन्दी का पुस्तकालय ही न हो, बल्कि हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाली और वस्तुएँ भी संग्रहीत रहें। पर यह काम तभी पूरा हो सकता है जब कि हिन्दी के समस्त लेखक, प्रकाशक तथा दूसरे प्रेमी जन उत्साह पूर्वक सहायता दें।

यदि आज राजकीय अधिकार हाथ में होता तो यह काम आसानी से हो सकता था। किसी देशी रियासत के अधिकारी चाहें तो हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी की तरह हिन्दी-विश्व-विद्यालय की स्थापना हो सकती है। पर जब तक यह नहीं होता है, विद्वानों का धर्म है कि पुरानी रीति के अनुसार कुछ विद्यार्थियों को शिक्षा देकर हिन्दी की गुरु-वंश-परम्परा कायम रखें।

एक तरफ़ हिन्दी का प्रचार बढ़ता है, पर दूसरी तरफ सीमाप्रान्त में हिन्दी और गुरुमुखी पर वहाँ की सरकार का हमला भी हो रहा है। सरकारी आज्ञा निकली है कि बालिका-विद्यालयों में दूसरी कक्षा से ऊपर के दर्जे में उर्दू और अँगरेज़ी द्वारा ही शिक्षा दी जाय। वहाँ पर ५८ ऐसे विद्यालय हैं जहाँ लड़कियाँ हिन्दी व गुरुमुखी में शिक्षा पा रही हैं और स्कूलों में पढ़ने वाली कुल लड़कियों की संख्या १४,४४३ है, जिनमें ८६७९ हिन्दू और सिख हैं तथा बाक़ी मुसलमान अथवा अन्य धर्मी हैं। सरकारी सरक्युलर में कहा गया है कि जो गर्ल्स स्कूल पाँच वर्षों में दूसरी श्रेणी से ऊपर के दर्जों में उर्दू और अँगरेज़ी ही माध्यम न रखेंगे उनकी सरकारी सहायता बन्द हो जायगी, और कोई नया विद्यालय, जो उन दर्जों में हिन्दी या गुरुमुखी द्वारा शिक्षा देता हो, सरकारी मदद नहीं पा सकता। स्वभावतः इस आज्ञा से केवल सीमाप्रान्त में ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान में खलबली मच गई है। प्रश्न होता है और बहुत ठीक होता है कि क्या अल्प-संख्यक जातियाँ अपनी भाषा और संस्कृति को छोड़ दें, या उनसे इस प्रकार ज़बरदस्ती छुड़ा दिया जा सकता है? भारतवर्ष के एक सूबे में इस प्रश्न को उठाकर वहाँ के मन्त्री और सरकार ने अच्छा नहीं किया है। क्या इसका अर्थ यह समझा जाय कि दूसरे सूबों में, जहाँ मुसलमानों की आबादी थोड़ी है, वहाँ के सरकारी और बोर्ड के स्कूलों से उर्दू का उठा देना उचित होगा? जो कारण सीमाप्रान्त में इस परिवर्तन के लिए बताये गए हैं वे कई प्रान्तों में उर्दू के उठाने के पक्ष में वर्तमान हैं और यदि यह भी कहा जाय कि वे ज्यादा ज़बरदस्त हैं तो भी अनुचित नहीं होगी। मेरी समझ

में सर अब्दुल कयूम ने सीमाप्रान्त में शासन-सुधार आने के पहले वहाँ के हिन्दू और सिखों को जो आश्वासन दिया था उसके विरुद्ध यह अच्छा नहीं किया। इसका बुरा परिणाम और जगहों में भी पड़ सकता है।

हिन्दी-प्रचार का काम दक्षिण-भारत में 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा' कर रही है। उसकी वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि कितना काम हो रहा है।

पिछले वर्ष में हिन्दी-प्रचार-सभा की परीक्षाओं में ११६५५ परीक्षार्थी शामिल हुए थे और परीक्षा-केन्द्रों की संख्या ४३४ रही। परीक्षार्थियों में २३०० से अधिक स्त्रियाँ, १३१ वकील, १५२ डॉक्टर, १४५२ शिक्षक, ५५६ व्यापारी, १०४ क्लर्क, ३२१४ विद्यार्थी और इनके अतिरिक्त अन्य पेशे वाले भी थे। परीक्षा-केन्द्र आन्ध्र, तमिल, कन्नड़ और मालाबार प्रदेशों के बाहर रंगून, हैदराबाद और कोलम्बो में भी थे, जहाँ ६४० परीक्षार्थियों ने भाग लिया। परीक्षा-विभाग के अतिरिक्त सभा के प्रायः चारों प्रान्तों में महाविद्यालय भी चल रहे हैं। बेजवाड़ा में प्रचारक-विद्यालय में प्रचारक शिक्षा पाते हैं और बेजवाड़ा के पास ही में ज़मीन ली गई है जो वहाँ के कारपोरेशन की कृपा से असली दाम पर ही मिल गई है। केन्द्रीय सभा के लिए मकान यहाँ बनेगा। केन्द्रीय सभा के प्रकाशन-विभाग से अब तक ५२ पुस्तकें निकल चुकी हैं, जो प्रायः सभी मद्रास-सरकार और दक्षिण की रियासतों की टैक्स्ट-बुक-कमेटियों द्वारा स्वीकृत हो चुकी हैं। इस वर्ष में भिन्न-भिन्न पुस्तकों की एक लाख प्रतियाँ प्रकाशित की गईं। अन्तर्प्रान्तीय अनुवाद-विभाग हिन्दी, तेलुगु, मराठी, कन्नड़, अँगरेज़ी, उर्दू, मलयालम और तमिल भाषाओं के अनुवाद का कार्य करता है। हिन्दी-तेलुगु और हिन्दी-कन्नड़-कोष तैयार हैं, पर आर्थिक कठिनाई के कारण अब तक छापे नहीं गए। स्थान-स्थान पर हिन्दी-प्रचार के लिए संस्थाएँ क़ायम हैं और कितने ही लोकल बोर्डों के हाई-स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिला है। मद्रास, आन्ध्र और मैसूर के विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी को स्थान दिया गया है। प्रचारकों की संख्या बहुत है। जिनमें ३२ प्रचारक और ६६ सहायक प्रचारक दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा से सीधे सम्बद्ध हैं, और बहुतेरे ऐसे हैं जो स्थानीय समिति की मातहती में अथवा स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं। इस प्रकार आन्ध्र-प्रदेश में सभा के निरीक्षण में एक सौ, और स्वतन्त्र रूप से दो सौ प्रचारक, केरल में पचास तथा तामिलनाड और कर्नाटक में सभा से सम्बद्ध प्रचारकों की संख्या क्रमशः बीस और चौदह है। स्वतन्त्र प्रचारकों की संख्या बड़ी है और बढ़ रही है; पर उनकी ठीक संख्या मालूम नहीं है। मैसूर-राज्य के मिडिल स्कूल में १९३५ से हिन्दी ऐच्छिक तौर पर सिखाई जायगी और कोचीन-राज्य के १५ हाईस्कूलों में हिन्दी सिखाई जा रही है। और, वहाँ के राजकुमार और

राजकुमारियों के लिए नियमित रूप से तिरुप्पणित्तुरा मे हिन्दी के वर्ग चल रहे है।

मुझे दक्षिण भारत मे भ्रमण करने का मौक़ा गत वर्ष मिला था और मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य और संतोष हुआ कि प्रायः सभी स्थानों पर हिन्दी समझने वाले कुछ-न-कुछ मिलते गए। यह और भी संतोष की बात है कि पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों ने भी हिन्दी सीखने मे काफ़ी उत्साह दिखलाया है। पिछले पन्द्रह वर्षों मे, जब से हिन्दी प्रचार का काम वहाँ हो रहा है, प्रायः ६ लाख व्यक्तियों ने हिन्दी सीख ली है। बहुत स्थानों मे मुझसे विशेषकर हिन्दी मे ही भाषण करने का आग्रह किया गया और बहुतेरे मानपत्र हिन्दी मे मुझे मिले। यह सब हर्ष की बात है। पर अभी काम बहुत बाक़ी है और राष्ट्रीयता ने हिन्दी के प्रति जो उत्साह पैदा किया है उसको क़ायम रखना और उससे राष्ट्रभाषा-प्रचार मे लाभ उठाना हमारा कर्तव्य है। उन लोगों को ध्यान मे रखकर ही मैंने ऊपर बहुत सी समस्याएं आपकी सेवा मे उपस्थित की है और आशा करता हूँ कि आप उन पर उचित ध्यान देंगे तथा उत्तर-भारत धन और जन से इस अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य मे हाथ बँटाता रहेगा।

जैसा काम हिन्दी-प्रचार-सभा द्वारा दक्षिण मे हो रहा है, उत्तरभारत के उन भागों मे भी, जहाँ हिन्दी नहीं बोली जाती है, होना चाहिए। ऐसे प्रान्त उत्कल, आसाम, बंगाल, गुजरात, सिन्ध और महाराष्ट्र है। यद्यपि इनमें काम अपेक्षाकृत सुगम होगा, पर तो भी कुछ करना आवश्यक है ही और जो आरम्भ उत्कल मे हुआ है उसकी पुष्टि होनी चाहिए और साथ ही अन्य सूबों में विस्तार भी होना चाहिए।

आदिम निवासियों मे भी हिन्दी का प्रचार बहुत आवश्यक है। मेरे सूबे बिहार में उनकी बड़ी संख्या है और वे मध्य-प्रान्त, बंगाल, उत्कल, गुजरात, राजपूताना और महाराष्ट्र के कुछ भागों मे भी फैले हुए है। ईसाई मिशनरी लोगों ने बिहार मे हिन्दी द्वारा ही उनमें शिक्षा-प्रचार का प्रयत्न किया है और इसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। साथ ही, हम अपने कर्तव्य को कृतज्ञता प्रकट करके ही समाप्त नहीं समझ सकते। संथाल परगना मे गोवर्द्धन-साहित्य-महाविद्यालय की स्थापना करके और संथालों के बीच विद्या-प्रचार का बीड़ा उठाकर कुछ उत्साही लोगों ने एक प्रकार से पथ-प्रदर्शन किया है। इस विद्यालय की ओर से संथालों को हिन्दी द्वारा शिक्षा देने के लिए २१ पाठशालाएँ भी खुली हुई हैं। और, यह महाविद्यालय केवल संथालों में ही हिन्दी द्वारा शिक्षा-प्रचार नहीं कर रहा है, बल्कि जहाँ तक मै जानता हूँ हिन्दी-साहित्य की अथ से इति तक नियमित रूप से शिक्षा देने वाला यह एक-मात्र विद्यालय है। मै आशा करता हूँ कि सभी सूबों में, जहाँ आदिम निवासी इस प्रकार से बसते

है, हिन्दी को ही माध्यम बनाकर काम लिया जायगा। उनकी भाषा लिपिबद्ध नहीं है और यदि उनको शिक्षा पाना है तो किसी-न-किसी भारतीय भाषा में ही शिक्षा हो सकती है। उनके लिए अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त एक प्रान्तीय और उस पर राष्ट्रभाषा लादना बहुत हो जायगा। इसलिए देश-हित और राष्ट्रीयता के नाते उनको यदि केवल हिन्दी ही सिखाई जाय तो बहुत अच्छा हो। वे एक-मात्र राष्ट्र-भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और एक प्रान्तीय भाषा के (जो सीखने में कठिन भी है) बोझ से बच जायें। प्रान्तीय भाषाओं के प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस पर विचार करें।

यद्यपि राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही किया जा रहा है तथापि कुछ लोगों में इसके सम्बन्ध में ग़लतफ़हमी उठ सकती है और दक्षिण भारत में कहीं-कहीं मुझसे प्रश्न किये गए थे। इसलिए आपकी आज्ञा से मैं बता देना चाहता हूँ कि हिन्दी-प्रचार का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रान्तीय भाषाएं किसी प्रकार कमज़ोर की जायँ अथवा उनका स्थान वहाँ के स्थानीय काम में हिन्दी ले। हिन्दी को हम राष्ट्र-भाषा मानते हैं और राष्ट्र के कामों में ही उसका व्यवहार अनिवार्य कर देना हमारा ध्येय है। आज जब कभी उत्तर और दक्षिण भारत के दो शिक्षित सज्जन मिलते हैं, और देश-विदेश की बातें करने लगते हैं, तो वे प्राय: अँगरेज़ी में ही बातें करते हैं, क्योंकि वे एक दूसरे की मातृ-भाषा नहीं जानते, अत: अँगरेज़ी ही बातचीत की माध्यम होती है। जब वे अँगरेज़ी में बातें करते हैं तब उनमें से एक भी अपनी मातृ-भाषा को छोड़ना नहीं चाहता। वे केवल काम चलाने के लिए एक अनजान विदेशी भाषा की शरण लेते हैं। हिन्दी-प्रचार केवल उस अँगरेज़ी के स्थान पर हिन्दी का व्यवहार कराना चाहता है। दक्खिन में, सभाओं में, मैंने कई स्थानों पर इस शंका के समाधान में कहा है कि हिन्दी-प्रचार से हमारा इतना-मात्र उद्देश्य है कि मुझे दक्खिन में और दक्षिण-भारतीयों को उत्तर देने में अँगरेज़ी न बोलनी पड़े और यदि मैं हिन्दी में कुछ कहूँ तो उनको भाषान्तर की ज़रूरत न पड़े। देश की स्वतन्त्रता के लिए एक देशी भाषा का राष्ट्र-भाषा होना आवश्यक है। कोई विदेशी भाषा हमारी संस्कृति और हमारे स्वरूप तथा भाव को व्यक्त करने की शक्ति नहीं रखती। और यद्यपि भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ हैं और अनेक धर्म हैं, तथापि सबकी तह में संस्कृति का एक ही स्रोत बहता है, जिससे जो चाहता है, कुछ खोद-कर अपनी प्यास बुझा सकता है। उस स्रोत तक कोई विदेशी भाषा हमको नहीं पहुँचा सकती। इसलिए, हमारे लिए राष्ट्र-भाषा कोई भारतीय भाषा ही हो सकती है। अपने प्रचार और प्रसार के कारण वह भाषा हिन्दी ही है, क्योंकि यदि किसी दूसरी भाषा को हम राष्ट्र-भाषा मान लें तो उसका प्रचार हिन्दी के प्रचार से

अधिक कष्ट-साध्य होगा और हमको बहुसंख्यक जनता को उस भाषा को ग्रहण करने की शिक्षा देनी पड़ेगी। इसलिए सुविधा के विचार से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा हमने माना है। यदि किसी दूसरी प्रान्तीय भाषा का उतना ही प्रचार होता जितना हिन्दी का है, तो हम हिन्दी-भाषा-भाषियों को भी उसी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करना पड़ता। इसलिए किसी के दिल में यह शक नहीं होना चाहिए कि हिन्दी-प्रचार का अर्थ प्रान्तीय भाषाओं के लिए बाधक या घातक हो सकता है। यह केवल एक राष्ट्रीय अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न-मात्र है।

गत वर्ष सम्मेलन की नियमावली के संशोधन के लिए एक उपसमिति बनाई गई थी। जहाँ तक मुझे पता है, उस समिति की रिपोर्ट स्थायी समिति तक नहीं पहुँची है और न मालूम उसके क्या विचार हैं। पर नियमावली का संशोधन आवश्यक समझ कर ही उस समिति की नियुक्ति सम्मेलन के पिछले अधिवेशन में हुई थी और वह आवश्यकता आज भी दूर नहीं हुई है। इसलिए मेरा अनुरोध होगा कि यथा-साध्य आवश्यक संशोधन आप कर लें, और यदि यह सम्भव न हो तो स्थायी समिति को आप अधिकार दें कि वह संशोधन करके अगले सम्मेलन में—केवल संशोधन की ही नहीं, वरन् नये नियम किस प्रकार काम में आयें, इस बात की भी—रिपोर्ट पेश करें। ऐसा करने से उन परिवर्तित नियमों के अनुभव का पता चलेगा और केवल विचार करने में ही एक साल न बीतेगा, और यदि कोई अनुचित संशोधन होगा अथवा किसी संशोधन से कुछ बुराई देखने में आयगी, तो आप अगले सम्मेलन में उसे सुधार सकेंगे।

इंदौर-सम्मेलन के पहले हमारे पास कोई ऐसा साधन न था जिससे हम भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों और भाषाओं के सुप्रसिद्ध साहित्यिकों और उनकी रचनाओं से परिचित होते। हिन्दी को व्यापक बनाने में यह एक बहुत बड़ी बाधा थी। हमें हर्ष है कि गत वर्ष महात्मा गांधी जी के सभापतित्व में उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक समिति क़ायम की गई, जिसके द्वारा 'हंस' नाम का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होने लगा है, जिसमें प्रतिमास भारतवर्ष की प्रमुख भाषाओं के प्रसिद्ध लेखकों और कवियों की रचनाओं से हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित होते रहते हैं। इनसे हमें इतना ही लाभ नहीं होता कि हम हिन्दी में नये-नये विषयों पर प्रभावशाली लेख पाते हैं, बल्कि हम उनके लेखकों से भी परिचित हो जाते हैं। हर्ष की बात है कि इस समिति के आयोजन से भारतीय साहित्य-परिषद् की स्थापना हो रही है और उसका पहला अधिवेशन इस नागपुर में ही महात्मा गांधी जी की अध्यक्षता में हो रहा है। इस परिषद् से हमें यह लाभ होगा कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भाषाओं के लेखकों और कवियों का पारस्परिक स्नेह-सौहार्द बढ़ेगा—हम भिन्न-भिन्न भाषाओं की गति-विधि

से परिचित हो सकेंगे—एक दूसरे के ज्ञान-भण्डार से लाभ उठा सकेंगे और इस प्रकार हम एक दूसरे के अधिक निकट आ सकेंगे, और आज जो हम एक दूसरे से अपरिचित और दूर मालूम होते है, वह दूर हो जायगा। साथ ही, हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में कुछ लोगों में जो ग़लतफ़हमी फैली है, वह भी दूर हो जायगी। हम आशा करते है कि इससे हिन्दी-प्रचार में बहुत सहायता मिलेगी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन एक बड़ी संस्था है। इसके उद्देश्य ऊँचे हैं और राष्ट्र-निर्माण का एक बहुत बड़ा अंग इसके ज़िम्मे है। राष्ट्र का प्राण साहित्य होता है और उस साहित्य का निर्माण-कर्ता समाज का बहुत बड़ा सेवक होता है। सम्मेलन ऐसे राष्ट्र-सेवियों की संस्था है, इसलिए इसको हम किसी प्रकार संकुचित अथवा अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होने दे सकते। इसकी सेवा के लिए उतने ही त्याग और संयम की ज़रूरत है जितनी किसी भी अन्य सार्वजनिक सेवा के लिए। हम हिन्दी-भाषियों का सौभाग्य है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा मानी जाती है। साथ ही, यही बात हम पर कर्तव्य का एक बहुत बड़ा बोझा भी लादती है। क्या हम हिन्दी को इस योग्य न बना देंगे कि इसका दावा केवल हिन्दी-भाषियों की संख्या पर ही अवलम्बित न रहकर अपने साहित्य के कारण भी सर्वमान्य हो जाय? संख्या घटती-बढ़ती रहेगी, पर साहित्य के अमूल्य रत्न सदा के लिए अमूल्य होते है। उनके बाज़ार में चढ़ाव-उतार नहीं हुआ करता, और न अर्थशास्त्र के वे नियम ही लागू होते हैं जो बहुलायत के कारण किसी वस्तु का दाम घटा दिया करते हैं। हम हिन्दी प्रचार में अपना कर्तव्य-पालन करें और साथ ही हिन्दी का वह अमूल्य और स्थायी साहित्य भी निर्माण करें जो इसे राष्ट्र-भाषा का पद दे। सम्मेलन तभी सफल होगा, जब इन दोनों अंगों को पूर्ण करने में वह पूरी सफलता पायगा, और वह सफलता हमारे संकल्प और निष्ठा पर ही निर्भर है।

४

राष्ट्र-भाषा का व्यापक आधार[1]

आज हमारे बीच में इस बात पर बहुत विचार हो रहा है कि राष्ट्र-भाषा का क्या रूप हो। इस बात का तसफ़िया करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि हम राष्ट्र-भाषा किस काम के लिए चाहते हैं और उसके प्रचार में हमें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना है।

हिन्दुस्तान में आज कई भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से मुख्य भाषाएँ बँगला, असमिया, उड़िया, हिन्दी, उर्दू (अगर इन दोनों को अलग-अलग भाषा मानें तो) गुजराती, मराठी, तेलुगु, तामिल, कन्नड़, मलयालम और सिंहली हैं। सिंहली को तभी हम इन भाषाओं के साथ स्थान दे सकते हैं जब हम लंका या सिंहल-द्वीप को भी हिन्दुस्तान का हिस्सा समझ लें। इनके अलावा केवल बोली जाने वाली बोलियाँ तो हमारे यहाँ अनगिनत हैं। आज एक बोली बोलने वाले या एक भाषा जानने वाले को दूसरी बोली बोलने वाले या दूसरी भाषा जानने वाले से आपस में बातें करनी हो, तो या तो उसको अपने साथी की बोली जाननी चाहिए या किसी ऐसी तीसरी भाषा का आश्रय लेना चाहिए जिसे वे दोनों समझते हों। अगर किसी एक प्रान्त का आदमी सारे देश के लोगों के साथ विचार-विनिमय करना चाहे, तो उसको इन सब भाषाओं को जानना चाहिए। किसी भी मनुष्य के लिए यह बात नामुमकिन नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। कोई आदमी इन तमाम भाषाओं को सीखने का ख़याल भी नहीं कर सकता। उसके लिए कोई एक ऐसी भाषा ज़रूर चाहिए जो सभी जगहों में बोली और समझी जा सके। जब से हिन्दुस्तान में अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार हुआ, अँगरेज़ी जानने वालों के लिए अँगरेज़ी ने ही इस सार्वदेशिक भाषा की जगह ले ली। मगर हिन्दुस्तान-जैसे बड़े देश में अँगरेज़ी जानने वालों की तादाद तो मुट्ठी-भर ही है, या हो सकती है। इसलिए यह देखा गया कि न तो अँगरेज़ी और न दूसरी ही कोई विदेशी भाषा इस देश में सार्वदेशिक भाषा का काम दे सकती है, क्योंकि उस हालत में सारे देश के लोगों को उसे सीखना होगा। तब यह सवाल होता है कि क्या देशी भाषाओं में कोई ऐसी है जिसे हम यह सार्वदेशिक स्थान दे सकते हैं? उत्तर भारत में जो बोली बोली व्याकरण का जामा पहनना पड़ता है और कुछ दिनों के बाद वे इस तरह घुल-मिल

---

[1] अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के काशी-अधिवेशन के अन्तर्गत राष्ट्रभाषा-परिषद् के सभापति-पद से दिया गया भाषण, सन् १९३९

और समझी जाती है उसका सारे देश में और सब बोलियों और भाषाओं से कहीं अधिक प्रचार है। यह भी देखा गया है कि दूसरे प्रान्तों मे भी उसको जानने वाले कुछ-न-कुछ तो है ही और उसी का प्रचार सबसे ज्यादा आसान है।

इस राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत इसलिए पड़ी कि एक सूबे का रहने वाला दूसरे सूबे के लोगों के साथ बात-व्यवहार कर सके। इसका यह उद्देश्य नहीं है कि किसी भी सूबे की भाषा को वहां से उठा दिया जाय या उसे कमजोर कर दिया जाय। राष्ट्र-भाषा-प्रचार का एक-मात्र उद्देश्य यह है कि यदि भारतवासी अपनी भाषा के अलावा एक और भाषा सीख लें तो सारे देश में उनको अपना कारोबार चलाने में किसी तरह की कठिनाई न आय और देश को अपने व्यवहार के लिए एक भाषा मिल जाय।

मैने ऊपर ही कहा है कि ऐसी भाषा की जगह उत्तर में बोली जाने वाली भाषा को ही मिल सकती है, इसी का प्रचार भी किया जा रहा है। इस भाषा के भी दो रूप उत्तर भारत में हो गए हैं। एक तो वह, जिसको हम हिन्दी कहते हैं और जिसमें संस्कृत के शब्द बहुतायत से आते है—और दूसरी वह भाषा जिसमे अरबी और फ़ारसी के शब्द ज्यादातर इस्तैमाल होते हैं। मैं इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहता कि पहले उर्दू का प्रचार हुआ था या हिन्दी का और किसका साहित्य अधिक पुराना है। यह भी हमारे विषय के लिए अनावश्यक है कि हम इस बात की खोज करें कि इन दोनों भाषाओं में कब से भेद पड़ने लगा और दोनों को अलग करने में किसका क़सूर है। आज हमको यह मान लेना होगा कि आज की हिन्दी और उर्दू में फ़र्क़ पड़ गया है और वह फ़र्क़ बढ़ता जा रहा है। दोनों का व्याकरण, क़ायदा और गठन एक है और होना चाहिए। मगर आज उसमें भी भेद पड़ता जा रहा है और जैसे-जैसे अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों की भरमार उर्दू में होती जा रही है वैसे-ही-वैसे फारसी और अरबी के प्रयोग और मुहावरे भी घुसते जा रहे हैं। उसी तरह हिन्दी में भी संस्कृत-शब्दों के साथ-साथ संस्कृत-व्याकरण का भी अनुकरण होने लगा है। पर इतना कहना सच है कि हिन्दी और उर्दू का गठन एक है और दोनों की उत्पत्ति हिन्दुस्तान में ही हुई और दोनों के मूल में संस्कृत नहीं तो प्राकृत ज़रूर हैं। दोनों के व्याकरण की नींव भी इसी कारण से संस्कृत के व्याकरण पर ही पड़ी है। मगर अब दोनों ने अपना व्याकरण भी बना लिया है जो संस्कृत के व्याकरण से भी अलग है और जिसमें फ़ारसी या अरबी के व्याकरण का कोई दख़ल नहीं है और नहीं होना चाहिए। भाषा का असली रूप उसके व्याकरण में ही पाया जाता है। शब्द घटते-बढ़ते रहते हैं, दूर-दूर से भी लाये जा सकते हैं, मगर उनको भी

जाते हैं कि उनका अलग कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। आज हमारी भाषा के कितने ही शब्द हैं जिनको हम व्यवहार से निकाल नहीं सकते और जिनके बारे में यह किसी का ख़याल भी नहीं होता होगा कि ये कहीं बाहर से आये हैं। कौन कह सकता है कि 'रोटी', जिसके बिना हम रह नहीं सकते, हिन्दुस्तान में कहाँ से आई और इसका असली रूप क्या था? सुना है कि यह तुर्की शब्द है। इसी तरह कौन सोचता है कि 'आग' और 'पानी' संस्कृत से निकले हैं, अब उनको कौन उर्दू से निकाल सकता है? साथ ही यह भी ज़ाहिर है कि 'रोटी' तुर्की-व्याकरण और 'आग'-'पानी' संस्कृत-व्याकरण का सहारा अब नहीं ले सकते। उनको तो हिन्दी-उर्दू के रास्ते पर चलना है। कुछ मुहावरे और कुछ क़ायदे भी शायद फ़ारसी से आ गए होंगे, लेकिन उनकी भी अब अलग हस्ती नहीं रह गई है। ये भी हिल-मिल गए हैं और उनको हम अलग नहीं कर सकते हैं। इसलिए यह कहना बेजा नहीं है कि हिन्दी और उर्दू की जड़ एक है, रूप-रेखा एक है और दोनों को अगर हम चाहें तो एक बना भी सकते हैं, गर्चे आज बदक़िस्मती से दोनों दो रूप करके भागते जाने की कोशिश कर रही हैं।

राष्ट्र-भाषा सारे देश के लिए चाहिए, इसलिए वह ऐसी नहीं होनी चाहिए और न हो सकती है जिसे हिन्दी या उर्दू जानने वाले भी न समझें। इन दोनों को हम अलग मान भी लें तो राष्ट्र-भाषा तो ऐसी ही हो सकती है कि इसको हिन्दी और उर्दू वाले दोनों मान लें। ऐसा नहीं हुआ तो एक मुश्किल को हल करने में एक दूसरी मुश्किल हम पैदा कर देते हैं। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्खिन में हिन्दी या उर्दू का प्रचार करके क्या होगा अगर उत्तर में ही लोग एक दूसरे को न समझ सकें और हिन्दी जानने वालों के लिए उर्दू वैसी ही हो जाय जैसी उनके लिए मराठी है या उर्दू जानने वालों के लिए हिन्दी वैसी ही हो जाय जैसी उनके लिए बंगला है। इसलिए, हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए, यह ज़रूरी है कि राष्ट्र-भाषा बनने का दावा करते-करते अपने रूप को ऐसा न बना लें कि एक दूसरे को ही न पहचान सकें और उत्तर भारत में भी—जहाँ के लोगों के लिए कोई राष्ट्र-भाषा बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती है—नई ज़रूरत खड़ी हो जाय। अगर उत्तर की भाषा ही राष्ट्र-भाषा होने वाली है तो उर्दू और हिन्दी को आपस का झगड़ा इतना तेज़ नहीं बनाना चाहिए जिससे कि और भाषाओं के जानने वाले कह बैठें कि इन दोनों में कोई भी राष्ट्र-भाषा के लिए मंजूर नहीं की जा सकती। इसलिए इस विचार से राष्ट्र-भाषा का रूप कुछ-कुछ निर्धारित हो जाता है। यह न तो संस्कृत-शब्दों का बहिष्कार कर सकती है और न अरबी-फ़ारसी के शब्दों को ही निकाल सकती है। जो शब्द आते हैं, चाहे संस्कृत के हों या फ़ारसी, अरबी और

किसी दूसरी विदेशी भाषा के भी क्यों न लें, निकाले नहीं जा सकते हैं। हाँ, नये अनगढ़ अप्रचलित शब्दों की भरमार भी अनावश्यक और हानिकारक है। हिन्दी-उर्दू के घरेलू झगड़े का निपटारा हमको कर लेना है। तभी हम हिन्दी के लिए राष्ट्र-भाषा का दावा कर सकते हैं।

अगर राष्ट्र-भाषा सारे देश के लिए चाहिए तो हमको इस पर विचार करना होगा कि अन्य भाषा-भाषियों के लिए कौन सी सुविधा हम दे सकते हैं और उनकी कठिनाइयों को हम किस तरह कम कर सकते हैं। बंगला, गुजरती, मराठी, असमिया और उड़िया में जो आर्य-भाषाएँ हैं, संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं; इसलिए उनकी और हिन्दी की शब्दावली बहुत अंशों में एक है और हो सकती है। इसी प्रकार, दक्षिण की भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव तो पड़ा ही है और ऐसे बहुतेरे शब्द, जो हिन्दी में आते हैं, उन भाषाओं में भी पाए जाते हैं। हाँ, कहीं-कहीं शब्दों के अर्थ में अन्तर पड़ गया है और एक ही शब्द हिन्दी और उन भाषाओं में अलग-अलग अर्थ रखता है। इसलिए अगर ऐसे शब्द, जो उन भाषाओं में भी पाये जाते हैं, राष्ट्र-भाषा में रखे जायँ तो ज़ाहिर है कि उन भाषाओं के बोलने वालों के लिए राष्ट्र-भाषा सीखने में बड़ी सुविधा हो जाय। इसी प्रकार, पंजाब और सीमा-प्रान्त में अरबी-फ़ारसी के बहुत शब्द वहाँ की स्थानीय बोलियों में आ गए हैं। अगर ऐसे शब्द राष्ट्र-भाषा में ले लिये जायँ तो वहाँ के लोगों को राष्ट्र-भाषा सीखने में सुविधा हो जाय। राष्ट्र-भाषा को अन्य-भाषा-भाषियों के हेतु सुगम बनाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी शब्दावली ऐसी बने कि सारे देश के लोगों के लिए उसके सीखने में सुविधा हो जाय। यह बात बहिष्कार की नीति से नहीं हो सकती। इसका एक-मात्र उपाय ग्रहण और संचय की नीति ही है। अर्थात् शब्दों को उनकी उत्पत्ति के कारण निकाला न जाय, बल्कि प्रचार के कारण उनको ग्रहण किया जाय और राष्ट्र-भाषा में उनको स्थान दिया जाय।

इस तरह राष्ट्र-भाषा की शब्दावली बहुत बड़ी हो सकती है। और जब एक ही अर्थ के बहुतेरे शब्द राष्ट्र-भाषा में होंगे तो समय पाकर उन शब्दों के अर्थ में भी कुछ बारीक फ़र्क़ पड़ता जायगा, और भाषा धनी होती जायगी। इनके अलावा गाँवों में भी अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें न तो कोई पुस्तक लिखी जाती है और न जिनका लिखा हुआ कोई व्याकरण ही पाया जाता है। इन बोलियों में बहुतेरे ऐसे शब्द पाये जाते हैं जो बहुत मानी रखते हैं और जो भावों को बहुत स्पष्टता से प्रकट करते हैं। हमारी ज़रूरत की बहुतेरी ऐसी चीज़ें हैं जिनके नाम ग्रामीण भाषा में पाये जाते हैं, मगर उनको न जानने के कारण हम आज बड़े-बड़े शब्द ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं। इन ग्रामीण बोलियों से भी शब्दों को लेना चाहिए और

आज की नई-नई चीज़ों के लिए, जो कल-कारखानों में देखने में आती हैं, उनका इस्तेमाल किया जा सकता है। और, यदि कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों से दरियाफ़्त किया जाय तो बहुतेरी चीज़ों के वे देशी नाम बता देंगे, जिनके लिए हम केवल अँगरेज़ी या विदेशी नाम ही जानते हैं और किसी देशी भाषा में फ़ारसी या संस्कृत से ही मदद लेकर हम नाम दे सकते हैं। इस प्रकार से राष्ट्र-भाषा की शब्दावली समृद्धिशाली बनाई जा सकती है। राष्ट्र-भाषा सभी प्रान्तीय भाषाओं से धनी बनाई जा सकती है।

मेरा तुच्छ विचार है कि जहाँ शब्दों के लेने में हमें उदारता बरतनी चाहिए, और शब्द चाहे कहीं से आया हो, अगर प्रचलित हो गया है तो उसे बहिष्कृत नहीं करना चाहिए, वहाँ व्याकरण के सम्बन्ध में हमें बाहर नहीं जाना चाहिए और अपने व्याकरण को ही काम में लाना चाहिए। लिखने की शैली भी राष्ट्र-भाषा की अपनी होनी चाहिए। गर्चे शैली लिखने वाले पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहती है, तो भी भाषा के गठन का प्रभाव तो उस पर पड़ना ही रहता है। राष्ट्र-भाषा का व्याकरण अन्य-भाषा-भाषियों के लिए कुछ कठिन होता है, उन कठिनाइयों को, जहाँ तक हो सके, कम करने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि बढ़ाने का। लिङ्ग-भेद का झगड़ा अन्य-भाषा-भाषियों के लिए बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। अब मैं देखता हूँ कि हिन्दी के कुछ लेखक उसे और भी जटिल कर रहे हैं। कितने ही संस्कृत के ऐसे शब्द हिन्दी में आ गए हैं, जो पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों ही में एक रूप रखते हैं; पर कुछ लोग उनके भी अलग-अलग रूप अब काम में लाने लगे हैं। यह अनावश्यक है। हिन्दी और उर्दू की वाक्य-रचना में फ़र्क़ है। एक का उद्गम संस्कृत है और दूसरी का फ़ारसी है। मगर जो लोग इस भेद को नहीं जानते, वे दोनों को आसानी से समझ सकते हैं और दोनों में कोई भेद नहीं पाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को भी राष्ट्र-भाषा में प्रचलित कर देने में कोई हानि नहीं दीखती। इसलिए, जहाँ तक हो सके, अपने ही व्याकरण और मुहावरों को काम में लाना चाहिए, पर इनमें अगर कोई चीज़ चल गई है तो उसका भी बहिष्कार नहीं होना चाहिए। मेरी राय में कहीं बहिष्कार की नीति का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। अगर किसी चीज़ का प्रचार हो गया है और वह ग्राह्य हो गई है, तो उसका संग्रह ही वाञ्छनीय है।

मैंने जो विचार उपस्थित किये हैं उनसे यह नतीजा निकलता है कि राष्ट्र-भाषा बहुत समृद्ध, धनी और प्रचलित होगी। अगर फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और ग्रामीण बोलियों के प्रचलित शब्द राष्ट्र-भाषा में ले लिये जायँगे, तो उससे बढ़कर धनी और समृद्ध दूसरी कोई भाषा हिन्दुस्तान में हो ही नहीं सकती। इतना बड़ा शब्द-भण्डार और किसी भी भाषा का होगा ही नहीं। पर इस राष्ट्र-भाषा की शब्दावली जैसे-जैसे

बढ़ती जायगी, नौसिखुओं के लिए उसके सीखने की कठिनाई भी वैसे-वैसे बढ़ती जायगी; क्योंकि उन्हें अधिक शब्दों को सीखना पड़ेगा। यह कठिनाई होगी, मगर मैं समझता हूँ कि वह इतनी बड़ी नहीं होगी जितनी लोग समझते हैं। अगर एक ही अर्थ के कई शब्द हैं, तो किसी के लिए सभी शब्दों का जानना ज़रूरी नहीं है। अगर इन शब्दों में एक को भी कोई जान ले, तो उसका काम चल जायगा।

मामूली कार-बार के लिए एक ऐसा कोष बन सकता है जिसमें अधिक-से-अधिक प्रचलित शब्द हों और जिनके द्वारा सारे देश में काम चलाया जा सकता है। राष्ट्र-भाषा की इस खूबी को हमें कभी भूलना नहीं चाहिए। उसका सबसे बड़ा और मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह प्रचलित हो और जहाँ नहीं प्रचलित हो वहाँ भी आसानी से उसे चलाया जा सके—उसका प्रचार किया जा सके।

५

हिन्दी का विकास : नई दिशा

हिन्दी-संसार के साहित्यिकों की कृपा मेरे ऊपर बराबर रही है। उनमें भी इस प्रान्त के लोगों का प्रेम और भी अधिक रहना स्वाभाविक है। इसलिए जब मुझसे यह कहा गया कि आप लोग एक अभिनन्दन-ग्रन्थ का आयोजन कर रहे हैं तो मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ, यद्यपि मैंने इसे अनावश्यक ज़रूर समझा। उसी प्रेम और कृपा के कारण मुझे प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व भी दिया गया, यद्यपि मैं अपने को इन पदों के योग्य कभी नहीं समझता था। साहित्य की मैंने कोई सेवा नहीं की और न साहित्य का अध्ययन ही किया। मैं किसी तरह इसका दावा नहीं कर सकता कि साहित्यकारों में मेरी गिनती की जाय, तो भी मैं इतना कह सकता हूँ कि मेरी दिलचस्पी हिन्दी-साहित्य की उन्नति और प्रचार में हमेशा रही है और आज भी है। पिछले ४०–५० वर्षों में जो हिन्दी-साहित्य की उन्नति हुई है उसका यदि दिग्दर्शन किया जाय तो उसी से पता चलेगा कि हिन्दी-साहित्य कितना है और कितनी तेज़ी के साथ इस अर्द्ध शताब्दी में आगे बढ़ा है। आज केवल गद्य और पद्य की रचना ही ऊँचे दर्जे की नहीं हो रही है, बल्कि अन्य विषयों में भी, जिनका सम्बन्ध[1] दर्शन तथा विज्ञान इत्यादि के साथ है, बहुत ग्रन्थ लिखे गए हैं, और दिन-प्रतिदिन उन की संख्या बढ़ती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत हो गई है और उनमें अनेक उच्च-कोटि की भी हुआ करती हैं। मैं इसकी योग्यता नहीं रखता और न इस बढ़ते हुए साहित्य के साथ इतना परिचय ही रखता हूँ कि उसकी समीचीन आलोचना करके आपके सामने रखूँ। मैं इतने से ही संतोष मानता हूँ कि हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। यहाँ मैं प्रस्तुत साहित्य की समालोचना न करके आपका ध्यान उन ख़तरों की तरफ़ दिलाना चाहता हूँ जो इसे नुक़सान पहुँचा सकते हैं और उन दिशाओं को दिखलाना चाहता हूँ जिनकी ओर हिन्दी-साहित्य अग्रसर होना चाहिए।

हिन्दी-पुस्तकों और पत्रों के पढ़ने वालों की संख्या बहुत बढ़ती जा रही है।

[1] आरा-नागरी-प्रचारणी-सभा द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किये जाने के अवसर पर दिया गया भाषण। मि० फाल्गुन शुक्ला १४ सं० २००६, ३ मार्च १९५०।

उनकी छपाई इत्यादि भी उन्नति कर गई है और बहुत सज-धज के साथ पुस्तके, तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इस तरह बाहरी सजावट, और ऊपरी सज-धज से पाठक मोहित और आकर्षित होते हैं। इन कारणों से पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की अच्छी क़ीमत देते हैं और उनको खुशी से खरीदकर बहुतेरे लोग पढ़ते हैं। मेरा अनुमान है कि जिस प्रकार हिन्दी बोलने वालों और समझने वालों की संख्या देश-भर मे अन्य सभी भाषाओं के बोलने और समझने वालों से अधिक है। इसी तरह यदि सब पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशित पुस्तकों के पढ़ने वालों की संख्या भी इकट्ठी की जाय तो और किसी भाषा मे प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के पाठकों की संख्या से वह अधिक जरूर निकलेगी। पर, आज-जैसी स्थिति मे—और जब हिन्दी अखिल भारतीय काम के लिए संविधान में राजकीय भाषा मान ली गई है—वह दिन दूर नहीं है जब हिन्दी-पाठकों की संख्या और भी अधिक बढ़ जायगी तथा हिन्दी के अच्छे ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं की माँग कहीं अधिक हो जायगी। यह एक शुभ लक्षण है। साथ ही हिन्दी के साहित्यिकों, पत्रकारों और लेखकों की ज़िम्मेदारी भी बहुत बढ़ जाती है।

जैसे-जैसे अहिन्दी-प्रान्तों और प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार बढ़ेगा वहाँ के लोग हिन्दी के प्रकाशनों की तुलना अपने प्रादेशिक प्रकाशनों से करने लगेंगे; और चाहे दैनिक पत्र हो (जिसमे लेख तेज़ी से लिखे जाते हैं और जिसमें समाचारों का सम्पादन और चयन घड़ी के काँटे की चाल के अनुसार ही करना पड़ता है) चाहे किसी गम्भीर विषय पर बहुत समय लगाकर बहुत परिश्रम के बाद लिखा गया ग्रन्थ हो, उसका उसी प्रकार के पत्र और ग्रन्थ के साथ, जो भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा में प्रकाशित हो, मुक़ाबला किया जाने लगेगा। इस तरह उत्तम से-उत्तम पत्र और ग्रन्थों का मुक़ाबला हिन्दी के किसी भी पत्र और ग्रन्थ के साथ किया जायगा। क्या हम आज यह दावा कर सकते हैं कि इस होड़ में हम सफल हो सकेंगे? प्रतिभाशाली गद्य-पद्य के रचयिता सभी भाषाओं मे समय-समय पर ही हुआ करते हैं। वह प्रतिभा प्रकृति की एक देन हुआ करती है जो किसी दूसरे प्रकार से हासिल नहीं की जा सकती। पर प्रतिभा के अलावा और जितने गुण होने चाहिएँ वे इसी जन्म मे हासिल किये जा सकते हैं। वे सब परिश्रम-साध्य हैं। इसलिए किसी को यह सोचकर कि उसमें प्राकृतिक प्रतिभा नहीं है निराश होकर बैठ रहना उचित नहीं। परिश्रम द्वारा यह कमी बहुत हद तक दूर की जा सकती है और मैं चाहता हूँ हिन्दी के प्रेमी अपने इस दायित्व को पूरी तरह समझें। जब संविधान परिषद् में हिन्दी को राजकीय भाषा बनाने के सम्बन्ध में वाद-विवाद हो रहा था तब कई अहिन्दी-भाषियों ने यह खुलकर कहा था कि वे हिन्दी को इसलिए अखिल

भारतीय राजकीय भाषा नहीं मान रहे हैं कि वह सभी भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक उन्नत है अथवा उसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अधिक बढ़ा-चढ़ा है, बल्कि वे हिन्दी को इसलिए स्वीकार कर रहे हैं कि वह दूसरी भाषाओं की तुलना में देश के बहुत बड़े भाग में समझी और बोली जाती है और उसके समझने और बोलने वाले और किसी भाषा के बोलने और समझने वालों की संख्या से बहुत अधिक हैं। इस कथन में तथ्य है और हिन्दी वालों के लिए एक प्रकार की चुनौती भी है। कुछ भाई तो हिन्दी को केवल राजकीय भाषा मानने के लिए तैयार थे पर उसे राष्ट्रीय पद देना नहीं चाहते थे। उनका कहना था कि उनके लिए उनकी प्रादेशिक भाषा ही, जो उनकी मातृ-भाषा है, उन्नत है। उसका साहित्य-भंडार हिन्दी से कम भरपूर नहीं है, और इसलिए वे उसे ही राष्ट्र-भाषा मानते हैं और मानेंगे। हाँ राजकीय कार-बार के लिए एक भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सार्वदेशिक काम के लिए उपयोग में लाई जा सके और वह अपने अधिक प्रचार के कारण हिन्दी ही हो सकती है और उसे ही हम मान लेते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि इन वाक्यों में तथ्य है और एक प्रकार की चुनौती भी है। हिन्दी-भाषियों को अपना दायित्व और कर्तव्य समझना चाहिए। जो गौरव हिन्दी को सार्वदेशिक राजकीय भाषा होने का मिला है उसके योग्य उन्हें हिन्दी को साबित करना है। इस कर्तव्य का पालन करना हिन्दी के प्रत्येक लेखक, पत्रकार, साहित्यिक और प्रकाशक को पूरी तरह समझ लेना चाहिए। सबसे पहली चीज़ यह है कि हिन्दी का शब्द-भण्डार जितना बढ़ सके बढ़ाना चाहिए। शब्दों के लेने में हमें न तो संकोच होना चाहिए और न हमको किसी प्रकार का ओछापन आने देना चाहिए। आज की हिन्दी की शब्दावली में केवल संस्कृत के ही तत्सम या तद्भव शब्द नहीं हैं। देश की दूसरी भाषाओं के अतिरिक्त उसमें बहुतेरे विदेशी शब्द भी आ गए हैं जिनका मूल अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँगरेजी, लैटिन, फ्रान्सीसी, स्पेनिश, पोर्चुगीज, डच इत्यादि भाषाओं में मिलता है। जिन-जिन भाषाओं के बोलने वालों के साथ हिन्दी का सम्पर्क हुआ उनके कुछ-न-कुछ शब्द हिन्दी ने ग्रहण कर लिए। यह सभी जीती-जागती भाषाओं का एक लक्षण है और ऐसा करने से हिन्दी को कोई नुक़सान नहीं हुआ है। इसलिए इस नीति को छोड़ना नहीं चाहिए और अन्य भाषाओं के शब्दों को लेकर उन्हें हिन्दी का जामा पहनाकर ऐसा बना देना चाहिए कि वे हिन्दी में घुल-मिल जायँ। जो शब्द इस तरह से हिन्दी में घुल-मिल गए हैं या इस तरह मिलाये जा सकते हैं, उनको निकालने में कोई बुद्धिमानी मैं नहीं मानता हूँ और न यह मानता हूँ कि इससे हिन्दी का कोई अहित होगा। मेरा विश्वास है कि जब एक ही अर्थ के कई शब्द हिन्दी में हो जायँगे तो आहिस्ता-

आहिस्ता उनके अर्थ में बारीक फ़र्क़ पड़ने लग जायगा—कुछ दिनों में विचार की बारीकी व्यक्त करने के लिए शब्दों का अलग-अलग प्रयोग होने लग जायगा और यह बारीकी जितनी आती जायगी भाषा उतनी ही समुन्नत होती जायगी। इसलिए मैं किसी प्रकार के शब्दों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं हूँ और चाहता हूँ कि हिन्दी का दरवाज़ा खुला रहे और दूसरी भाषाओं के शब्द भी विशेष करके भारत की प्रादेशिक भाषाओं के शब्द, जिनके लिए ठीक पर्यायवाची हिन्दी में नहीं मिलते, लाये जायें। हिन्दी-भाषी प्रदेशों के गाँवों में भी बहुतेरे ऐसे शब्द ग्रामीण भाषा में मिलते हैं जो बहुत ही सुन्दर, मधुर और अर्थभरे होते हैं। उनको भी यह कहकर नहीं छोड़ना चाहिए कि वे ग्रामीण और गँवारों की बोल-चाल के शब्द हैं। जो पहले से ही प्रचलित हो गए हैं उनको निकाल देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता।

शब्दों के अतिरिक्त बहुत से मुहावरे ऐसे हुआ करते हैं जो बहुत रोचक और सुगम तथा अर्थभरे होते हैं। इनमें बहुत से तो ऐसे होते हैं जो एक भाषा से दूसरी भाषा में नहीं लिये जा सकते और कुछ ऐसे भी होते हैं जो आसानी से एक भाषा से दूसरी भाषा में अपनाये जा सकते हैं, विशेष करके जब ऐसी भाषाओं का उद्गम एक हो अथवा उनका एक-दूसरे के साथ सम्पर्क रहा हो और एक दूसरे को वे प्रभावित कर सकती हों। मेरा विश्वास है कि भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के अनेकों मुहावरे या प्रयोग होंगे जो हिन्दी में आ गए हैं या आ रहे हैं या लाये जा सकते हैं। हिन्दी का सम्पर्क दूसरी भाषाओं से जितना बढ़ेगा उतना ही ऐसे प्रयोगों का अधिक उपयोग मालूम होने लगेगा।

प्रत्येक भाषा की अपनी शैली और अपना व्याकरण हुआ करता है, पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि जब दूसरी भाषाओं के साथ उसका सम्पर्क बढ़ता है तब उस शैली और व्याकरण में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ तो परिवर्तन जान-बूझकर किये जाते हैं और कुछ स्वयं हो जाते हैं; जिनके सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं होता कि वह परिवर्तन क्यों, कब और किस तरह लाया गया। हिन्दी-भाषा का सम्पर्क ज्यों-ज्यों दूसरी भाषाओं के साथ बढ़ेगा, यह परिवर्तन भी अनिवार्य हो जायगा। शब्दावली, मुहावरे, शैली और व्याकरण-सम्बन्धी परिवर्तन या परिवर्धन, जो हिन्दी में होना चाहिए या होगा वह किसी विशेष विद्वन्मंडली अथवा संस्था के करने से नहीं होगा। जीती-जागती भाषा इस प्रकार की संस्थाओं के प्रस्तावों और निश्चयों से न बढ़ाई जा सकती है और न घटाई, और न उसकी चाल निर्धारित की जा सकती है। सम्पर्क का स्वाभाविक फल होता है कि इस प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन हो जाते हैं। बुद्धिमानी और समय का तक़ाज़ा है कि इनके रास्ते में रोड़े न अटकाये जायें

और भाषा-विकास के प्राकृतिक नियमों को अबाध रूप से काम करने का मौक़ा दिया जाय। यह आज हिन्दी के सार्वदेशिक राजकीय भाषा बन जाने के कारण आवश्यकीय तथा अनिवार्य हो गया है। हम हिन्दी-भाषी यदि इसमें अनुदार हुए और किसी प्रकार इस विचार से कि हिन्दी-भाषा हमारी है और इसकी शुद्धता और पवित्रता इस प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन से नष्ट हो जायगी, हमने कोई बाधा डालने का प्रयत्न किया तो हमारा प्रयत्न या तो असफल होकर रहेगा या सफल हुआ तो हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा बनने से वंचित होकर रहना पड़ेगा और वह एक प्रादेशिक भाषा होकर ही रह जायगी। आज हिन्दी की होड़ भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के साथ है और वह सार्वदेशिक स्थान तभी सुरक्षित रख सकती है जब वह अपने में इतनी उदारता और लचक ला सकेगी कि वह सब दूसरी भाषाओं को अपना सके और सभी दूसरी भाषाएँ उसको अपना सकें। अपनाने का अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी हिन्दी न रह जाय बल्कि उसका अर्थ इतना ही है कि वह हिन्दी रहते हुए भी सार्वदेशिक हो जाय।

हिन्दी-भाषी को चाहिए कि वह अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करे। कम-से-कम किसी एक दूसरी भाषा को तो प्रत्येक हिन्दी-भाषी को जरूर सीखना ही चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि हिन्दी-भाषी दूसरे प्रदेशों के साथ सम्पर्क और अपनत्व बढ़ा सकेंगे और इसके अलावा उनको इसका भी मौक़ा मिलेगा कि वे हिन्दी के नवप्रकाशित ग्रन्थों और पत्रों का उस दूसरी भाषा के ग्रन्थों और पत्रों से मुक़ाबला करके खुद देख सकेंगे कि हिन्दी कहाँ तक उनके मुक़ाबले में पहुँचती है, इसमें क्या त्रुटियाँ रह जाती हैं और किस दिशा में उसे कौन सी कमी पूरी करनी है। ऐसे लोगों के लिए जो कुछ लिखना चाहते हैं या कोई अपनी विशेष रचना करना चाहते हैं उन्हें दूसरी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य मानना चाहिए। इसके बिना उनकी रचनाओं में न तो वह व्यापकता आ सकेगी और न वह ओज, जो अच्छे साहित्य के लिए आवश्यक है। अहिन्दी प्रदेशों के लोगों ने तो जान-बूझकर राष्ट्रीय और देश-हित के विचार से हिन्दी सीखने का बोझ अपने सिर पर उठाया है। तो क्या हम हिन्दी-भाषी इतना भी नहीं करेंगे कि उन दूसरी भाषाओं के बोलने वालों और लिखने वालों के विचारों और उद्गारों से अपने को परिचित बनायें। और इस परिचय से हम उन पर कोई मेहरबानी या एहसान नहीं करेंगे। यह परिचय तो हिन्दी को उन्नत और समृद्धिशाली बनाने में काम आयगा जिसके बिना हिन्दी को जो स्थान मिला है वह क़ायम रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। इसलिए हिन्दी-भाषियों को देश-हित और हिन्दी-हित के विचार से दूसरी भारतीय भाषाओं के साथ परिचय करना, उनके साहित्य का अध्ययन करना एक अनिवार्य कर्तव्य मानना चाहिए। उचित तो यह होगा कि

जिस तरह हम अहिन्दी भाषा-भाषियों से यह आशा रखते हैं कि वे हिन्दी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लें कि उस भाषा में वह सब राजकीय काम लिख-पढ़ और बोल-चाल कर सकें तो हमको भी किसी दूसरी भाषा का इतना ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए ताकि हम भी उसी तरह उस भाषा में लिख-पढ़कर और बोल-चालकर सभी आवश्यक काम चला सकें।

एक दूसरी दृष्टि से भी दूसरी भाषाओं का ज्ञान हिन्दी-भाषियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी का प्रचार अहिन्दी प्रान्तों में करना है। इसमें हिन्दी-भाषियों को बहुत-कुछ आरम्भ में करना होगा। वे जब तक कि दूसरे प्रान्तों की भाषाओं का कम-से-कम काम-चलाऊ ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते इस काम को नहीं कर सकेंगे। इसलिए भी दूसरी भाषाओं का ज्ञान हिन्दी-भाषियों के लिए आवश्यक है। दक्षिण-भारत में जब हिन्दी का प्रचार आज से ३०-३५ वर्ष पहले आरम्भ किया गया तो पहले हिन्दी-भाषियों को ही जाकर यह काम आरम्भ करना पड़ा था। अब तो वहाँ के निवासियों में ही बहुतेरे ऐसे तैयार हो गए हैं जो इस काम को बहुत ही सफलता पूर्वक कर सकते हैं और कर रहे हैं। तो भी अगर जो १५ वर्ष की अवधि केवल हमारे संविधान ने दी है इसके भीतर सभी प्रान्तों में हिन्दी का काफ़ी प्रचार और प्रसार होना है, तो हिन्दी-भाषियों का यह बड़ा कर्तव्य हो जाता है कि वे दूसरी भाषाओं को सीखकर इस काम में जितनी सहायता दे सकते हैं दें। दूसरी भाषाओं के ज्ञान से हिन्दी की शब्दावली, शैली और व्याकरण तथा मुहावरों पर भी परोक्ष रीति से हम प्रभाव डालेंगे, जो केवल दूसरे प्रदेशों के लोग हिन्दी सीखकर उतने अच्छे ढंग से और हिन्दी की अपनी मर्यादा को क़ायम रखते हुए शायद न डाल सकेंगे। प्रभाव पड़ना तो अनिवार्य है, पर हिन्दी की अपनी मर्यादा जिस हद तक हिन्दी-भाषी समझेंगे और सुरक्षित रख सकेंगे, उस हद तक शायद दूसरे नहीं, और इसलिए भी हिन्दी-भाषियों को दूसरी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक तथा अनिवार्य हो गया है।

हिन्दी-साहित्य के भंडार को भरपूर और राष्ट्र-भाषा के योग्य बनाने के लिए कुछ बातें आवश्यक हैं। पहली चीज़ तो यह है कि हिन्दी में उच्च कोटि के मौलिक साहित्य का निर्माण किया जाय। साहित्य से मेरा अर्थ केवल गद्य और पद्य की उन कृतियों से ही नहीं है जो साधारणतया हम समझते हैं। साहित्य शब्द का व्यवहार हमने एक विस्तृत और व्यापक अर्थ में किया है। इसमें मैं सभी विषयों से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों और कृतियों को समाविष्ट करता हूँ। मेरा अर्थ है मौलिक खोज और अनुसंधान के फल से, चाहे वह खोज और अनुसंधान किसी वैज्ञानिक विषय के साथ सम्बन्ध रखता हो, चाहे वह भूगोल और खगोल के साथ सम्बन्ध रखता हो,

अथवा रेखा-गणित, बीज-गणित या अन्य प्रकार के गणित के साथ सम्बन्ध रखता हो, चाहे वह दर्शन के साथ संबंध रखता हो अथवा इस प्रकार की गद्य-पद्य-रचना के साथ, जिसे हम साधारणतः साहित्य का नाम देते हैं, सम्बन्ध रखता हो। हम इन सभी और सभी अन्य प्रकार की कृतियों को साहित्य का नाम देते हैं। और जब उसके भण्डार को भरपूर करने की बात करते हैं तो इन सबकी पूर्ति हम चाहते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हिन्दी-भाषी इन सभी विषयों के स्वतन्त्र और मौलिक ग्रन्थों के लिखने की योग्यता प्राप्त करें और ऐसे मौलिक ग्रन्थ लिखें। इसमें एक दो नहीं हजार-हजार विद्वानों और अनुसंधानकों को लगना होगा जो सभी बातों को भूलकर एकचित्त सच्चे योगी बनकर जिस विषय को वे लें उसमें मौलिक कृति देश को और संसार को दें। जैसा मैंने ऊपर कहा है यह महान् कार्य बहुत करके श्रम-साध्य है और यदि हमारे विद्वानों ने, विशेष करके युवकों ने, इस ओर ध्यान दिया और उसमें लग गए तो पन्द्रह वर्ष के भीतर ही इसका फल कुछ-न-कुछ देखने को मिल सकेगा।

मौलिक कृतियों के अतिरिक्त अनुवाद के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य का सृजन और प्रकाशन होता ही रहता है। उनमें जितने अच्छे ग्रन्थ हैं चाहे वे प्राचीन हों अथवा नवीन और चाहे जिस विषय के हों, यदि उनमें कुछ ऐसा विषय अथवा तथ्य हो जो हिन्दी-भाषियों के लिए आवश्यक अथवा हितकर समझा जाय तो उनका अनुवाद हिन्दी में अवश्य होना चाहिए। आज अनुवाद विशेष करके हिन्दी-भाषियों को ही करना होगा और वह केवल भारतीय भाषाओं से ही नहीं, संसार की दूसरी भाषाओं में भी ग्रन्थों को लेकर करना आवश्यक होगा। यह तभी हो सकता है जब कुछ हिन्दी के विद्वान् दूसरी भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान और उनके साहित्य से इतना परिचय प्राप्त कर ले कि वह उनमें से अच्छे और उच्च कोटि के ग्रन्थों को चुनकर निकाल सकें और उनको पढ़कर रसास्वादन केवल स्वयं न कर सकें, बल्कि इतनी योग्यता रखें कि मौलिक ग्रन्थ की रचना और ओज को अपने अनुवाद में भी कुछ हद तक ला सकें। एक प्रकार से मौलिक लेख लिखना आसान है, पर किसी दूसरी भाषा से अनुवाद करना बहुत कठिन होता है। मेरा निजी अनुभव है कि मैं अंग्रेजी से हिन्दी में अथवा हिन्दी से अंग्रेजी में उतनी आसानी से अनुवाद नहीं कर सकता जितनी आसानी के साथ इन दोनों भाषाओं में लिख या बोल सकता हूँ। गहन विषयों का तो अनुवाद और भी कठिन होता है। अनुवादक को केवल उन दोनों भाषाओं का, जिनमें कि एक से दूसरी में अनुवाद करना है, अच्छा ज्ञान होना अनिवार्य ही नहीं है, बल्कि उस विषय पर भी उसका अधिकार होना चाहिए जिस विषय से वह अनुवाद किया जाने वाला ग्रन्थ सम्बन्ध रखता है।

इसलिए किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि अगर वह दो भाषाओं को मामूली तौर से जानता है तो वह एक से दूसरी में अनुवाद कर सकता है। अनुवाद के लिए ग्रन्थ चुनने में भी विषय का ज्ञान आवश्यक है और हिन्दी में उस विषय पर क्या मौजूद है वह तो जानना ज़रूरी है।

सबसे बड़ा डर मुझे इस ही बात का है कि हिन्दी-पाठकों की संख्या बढ़ जाने से हर प्रकार की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार अधिक हो रहा है और आगे और भी अधिक होने वाला है। कुछ दिन पहले इस विषय पर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने कुछ चर्चा छेड़ी थी और उन्होंने उस प्रकार के तुच्छ और हानिकारक साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' का नाम दिया था। मुझे डर है कि घासलेटी साहित्य की, अब जब हिन्दी-पाठकों की संख्या बढ़ेगी, वृद्धि होगी। हिन्दी-साहित्यकारों और प्रकाशकों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि इस प्रकार के साहित्य के प्रचार को रोकें—कम-से-कम उसमें सहायक न हों। यह काम आसान नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध पैसों से जुड़ा हुआ है और पैसों का लोभ संवरण करना आसान नहीं होता है। पर मैं मानता हूं कि यदि उच्चकोटि के साहित्यकारों और आलोचकों ने इस पर ध्यान दिया तो इस प्रचार को रोकने में वे सफल हो सकते हैं। हमको यह समझना चाहिए कि हिन्दी में घासलेटी साहित्य केवल हिन्दी-भाषियों के ही हाथों में नहीं जायगा। वह अन्य-भाषा-भाषियों के हाथों में पहुँचेगा और इससे सारे हिन्दी-साहित्य की बदनामी होगी। इसलिए हिन्दी की प्रतिष्ठा की यह अपेक्षा है कि इस प्रकार का अस्वस्थ साहित्य हिन्दी में स्थान न पाय। और, जिस तरह से कोई चोर या व्यभिचारी किसी अच्छे समाज में स्थान नहीं पाता, उसी तरह से हमारा साहित्यिक समाज ऐसा बन जाय कि उसमें इस प्रकार के व्यभिचारी साहित्य को स्थान न मिल सके।

बिहार के रहने वालों का एक और विशेष कर्तव्य है। इस प्रान्त में प्रायः पचास लाख आदिम जाति के लोग बसते हैं जिनकी अनेक बोलियाँ संथाली, मुंडाली, पहाड़ी, खड़िया, ऊडाँव, हो इत्यादि हैं। इनका रहन-सहन और इनकी बोलियों को भी जानना आवश्यक है, विशेष करके उन लोगों के लिए जो उन अंचलों में बसते हैं जहाँ कि बोलियाँ बोली जाती हैं। उनके साथ हमारा सम्पर्क बढ़ना चाहिए। वह सम्पर्क शोषण के लिए नहीं, उनकी सेवा के लिए आवश्यक है। वह बहुत बातों में पिछड़े हुए हैं, पर उनमें बहुतेरे गुण भी हैं जिनको हमें उनसे सीखना है। आधुनिक रीति से अशिक्षित वे ज़रूर हैं और उनका रहन-सहन भी आधुनिक लोगों को ठीक नहीं जँचता, पर हम यह नहीं भूल सकते कि आज के आधुनिक लोगों के मुकाबले में उनमें फूट-फरेब बहुत कम है और सीधापन बहुत अधिक है, जिसका हममें से बहुतेरे अनुचित लाभ उठाने से बाज़ नहीं आते। बहुत अंशों में उनका समाज-

गठन भी ऐसा है जो हमारे आज के विशृंखल समाज के लिए नमूना पेश कर सकता है। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम उनकी सेवा के लिए और उनसे जो-कुछ सीख सकते है, सीखने के लिए उनके साथ सम्पर्क बढ़ावें, उनकी बोली का ज्ञान प्राप्त करें और उनके बीच में हिन्दी का प्रचार करें जिससे वे भी और लोगों के साथ सार्वदेशिक कामों मे बराबरी का भाग ले सकें।

आरा-नागरी-प्रचारणी-सभा बहुत दिनों से हिन्दी की सेवा करती आ रही है। इसने यह अभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार कराकर और मुझे भेंट करके मेरा आदर बढ़ाया है। मैं इसके लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। मै समझता हूँ कि अपनी कृतज्ञता मैं इसी तरह प्रकट कर सकता हूँ कि आज जो हिन्दी-भाषियों पर और हिन्दी के सेवकों पर दायित्व आ गया है उसको उनके सामने रख दूँ और उनसे यह आशा करूँ कि वे इस महान् कार्य को पूरा करने में अपनी शक्ति लगायेंगे और उत्साह दिखलायेंगे। इसी भावना से मैंने जो कुछ उचित समझा कहा, और मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे निवेदन को स्वीकार करेंगे।

६

साहित्यकार का दायित्व[1]

मैं आप सबको इस बात के लिए बधाई देना चाहता हूँ कि आपने अपने ही प्रयास से साहित्यिकों की सहायता करने और उन्हें साहित्य-सृजन की हर प्रकार की सुविधा प्राप्त कराने के लिए इस महत्त्वपूर्ण संस्था को बनाया है और इस सरस्वती-मन्दिर के निर्माण का प्रबन्ध किया है, जिसके शिला-न्यास करने में मुझे आज अत्यन्त हर्ष और प्रसन्नता है । जिस सामूहिक कल्याण और आत्मविश्वास पर आपकी यह संस्था क़ायम है उनकी सराहना मैं किन शब्दों मे करूँ यह मैं नहीं जानता ।

इस बात से तो आज कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे देश में साहित्य-सेवियों का जीवन अत्यन्त कण्टकाकीर्ण रहा है । जैसा कि आपने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "परतन्त्र तथा विदेशी भाषा से आक्रान्त देश में साहित्य-सृजन संघर्ष-साध्य ही होता है ।" अतः जब तक हमारे देश में विदेशियों का राज्य था हमारे साहित्यकारों को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं । स्वतन्त्र होने के पश्चात् इस बारे में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु आज भी वैसी स्थिति नहीं है जैसी अच्छे साहित्य-सृजन के लिए होनी चाहिए । यद्यपि हमने यह निश्चय कर लिया है कि हमारा सभी सार्वजनिक राज-काज हमारे देश की भाषाओं में ही कुछ वर्षों के बाद चलेगा, किन्तु आज भी हमारे यहाँ के शिक्षा-शास्त्रियों, शिक्षकों और शिक्षार्थियों के मन से अँगरेजी भाषा का यह मोह नहीं छूटा जो अँगरेजी राज्य-काल में उसके प्रति पैदा हो गया था । जाने में या अनजाने में हमारे यहाँ के बहुसंख्यक शिक्षितों के मन में यह भाव घर किये हुए हैं कि हमारी अपनी भाषाओं में वैसी उच्चकोटि का साहित्य न तो है और न हो सकता है जैसा कि अँगरेजी में है; और इस भावना के कारण आज भी उनका लगाव अपनी भाषाओं के साहित्य से कुछ अधिक नहीं है । हमारे साहित्यकारों को जो आर्थिक कठिनाइयाँ सहनी पड़ी हैं और सहनी पड़ रही हैं उनका एक कारण यही मनोवृत्ति है, क्योंकि इसके कारण हमारे यहाँ उनकी कृतियों का शिक्षित वर्ग में वैसा प्रचार नहीं होता जैसा कि अन्य देशों में वहाँ के साहित्यकारों की कृतियों का होता है ।

इस कथन से मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हमारे देशवासियों को

[1] सरस्वती मन्दिर, प्रयाग के शिलान्यास के अवसर पर दिया गया भाषण, १० फरवरी, १९५१ ।

अन्य भाषाओं के साहित्य से, विशेष करके अँगरेजी के साहित्य से, प्रेम न करना चाहिए। इसके विपरीत मैं तो यह मानता हूँ कि अँगरेजी भाषा का ज्ञान बहुत जरूरी है, क्योंकि वह आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा हो रही है और उसका साहित्य भी बहुत बड़ा और व्यापक है। इसके अलावा कोई साहित्यिक अतीत काल या वर्तमान जगत् के साहित्य से अनभिज्ञ रहकर सफल साहित्य-साधना नहीं कर सकता और न वैसी हालत में कोई व्यक्ति ही अपने को समुचित रूप से शिक्षित बना सकता है। किन्तु साथ ही मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि अन्य भाषाओं के साहित्य का स्वाद हम तभी पहचान या जान सकेंगे जब हमने अपनी भाषाओं के साहित्य के स्वाद को जान लिया हो। इसलिए मैं यह बात कई बार कह चुका हूँ और और आज भी दुहराना चाहता हूँ कि अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए और बातों के साथ-साथ हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपनी भाषाओं के साहित्य से प्रेम करना सीखें और उनके अध्ययन में यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी दिलचस्पी अवश्य रखें जितनी कि हमारे बहुत से लोग आजकल विदेशी साहित्य के अध्ययन में रखते हैं। यदि हमारे देश-भाई ऐसा करने लगें तो न केवल हमारे देश का ही बड़ा भारी कल्याण होगा वरन् हमारे साहित्यकार भाई-बहनों की निजी आर्थिक समस्या भी कुछ सीमा तक हल हो जायगी। कुछ सीमा तक ही हल होने की बात मैं इसलिए कहता हूँ कि वर्तमान आर्थिक ढाँचे के कारण साहित्यकार को वह आर्थिक प्रतिलाभ प्राप्त नहीं होता जिसका कि वह समाज के असंख्य व्यक्तियों को अक्षय आनन्द और नव स्फूर्ति, रंगीन सपने और कल्याणकारी आदर्श प्रदान करने के बदले में अधिकारी होता है। हमारी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में व्यवसाय समाज-सेवा के हेतु से न किया जाकर अपने निजी लाभ के लिए किया जाता है जिसका परिणाम बहुधा यह होता है कि निजी लाभ की वेदी पर सामूहिक कल्याण की बलि दे दी जाती है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विचारों की अमूल्य रत्न-पिटारी को प्रकाशक लोग ग़रीब साहित्यिक से कौड़ियों के दाम ख़रीद लेते हैं और स्वयं उससे बहुत लाभ उठाते हैं। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि आपने इस विषमता और अन्याय को दूर करने का वह क़दम उठाया है जो न केवल आप-जैसे उपासकों के लिए उपयुक्त है वरन् समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए अनुकरणीय भी है। समाज से अन्याय और विषमता को दूर करने का मार्ग यही है कि लोग सहकारिता और सर्वोदय के सिद्धान्त को अपनायें। आपने यही सिद्धान्त अपनाया है और इसलिए आप और भी बधाई के पात्र हैं।

क्रान्तियों के अन्य मार्ग और देशों में सुझाये गए हैं, किन्तु हमारे देश में सुदूर पुरातन काल से सामूहिक और वैयक्तिक जीवन में सुख और शान्ति स्थापित करने

का मार्ग यही ठीक ठहराया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का चरम उत्कर्ष इसी बात में माने कि उसके अपने जीवन से सब मानवों का जीवन सुरभिमय और सुखमय हो जाय। मेरी समझ में, इसलिए ही हमारे देश में अहिंसा के आदर्श को उतनी महत्ता दी गई। राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी ने इसी आदर्श की आवाज उठाकर सुप्त भारतवासियों की नसों में फिर नव-जीवन, नव-स्फूर्ति और नव-सृजनात्मक शक्ति का संचार कर दिया। आपने अपने हितों की रक्षा के लिए और समाज की रचनात्मक सेवा के लिए इसी मार्ग को अपनाया है।

मुझे पूरा विश्वास है कि यदि आप अपनी कृतियों में सृजनात्मक और सहकारिता के इस सिद्धान्त के प्रति वफ़ादार रहें तो आप सचमुच ही अपनी कृतियों को भारत के नव-निर्माण और यहाँ की जनता के दुःख-दारिद्र्य को दूर करने का प्रबल अस्त्र बना देंगे। भगवान् ने आपको ऐसी शक्ति प्रदान की है कि आप उसके द्वारा अपने अन्य भाई-बहनों की समस्याओं को ऐसे सुस्पष्ट और सजीव शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं कि वे उनको ठीक-ठीक पहचान लें और साथ ही आप उनको वह प्रेरणा और वह दिग्दर्शन प्रदान कर सकते हैं जिससे ज्योति और उत्साह पाकर वे अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए कटिबद्ध होकर लग जायँ। हमारे देश में करोड़ों नर-नारियों का जीवन आज विफलतापूर्ण और विपत्तिमय है और हमारी स्वतन्त्रता का तब तक कोई अर्थ न होगा जब तक कि वे अपने जीवन को सफल और सार्थक न कर सकें। इस महान् कार्य-सम्पादन के लिए आज हमारे देश को प्रत्येक व्यक्ति के अंश-दान की आवश्यकता है। जो राजनीतिज्ञ हैं वे राजनीतिक दृष्टि से उस दशा को सुधारने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु न तो राजनीतिज्ञ और न यन्त्रकारों के हाथ में यह बात है कि वे जनता के हृदय में ऐसी स्फूर्ति, ऐसा उत्साह, और ऐसी लगन पैदा कर दें कि जनता इन समस्याओं को शीघ्रातिशीघ्र सुलझाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दे। जनता के हृदय में यह भावना पैदा करने का काम साहित्यिकों का है। आज हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि साहित्य प्रेयसी का गान न होकर प्रसविनी माता की सृजनात्मक शक्ति हो, वह उपभोग की वस्तु न हो कर रचना का साधन हो। हमारे साहित्यकारों में से अनेक ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दिनों में बड़ा महान् कार्य किया था और उनमें से अनेक ने उन दिनों ऐसी कृतियाँ दीं जिन से जन-जीवन में स्वतन्त्रता के लिए मोहक उन्माद पैदा हो गया और लाखों ही व्यक्ति स्वतन्त्रता-युद्ध में अपने जीवन का बलिदान करने को प्रस्तुत हो गए।

आज हमें दूसरे प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है—ऐसे साहित्य की जो को ऐसी प्रेरणा दे कि कृषि, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा के क्षेत्रों में वर्तमान विज्ञान का सहारा लेकर प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक उद्योग में जुट जाय।

मैं समझता हूँ कि आज हमारे समाज में रचनात्मक या सृजनात्मक कार्यों के प्रति जो उदासीनता है उसका कारण बहुत-कुछ यही है कि आज साहित्य में इस बात की गूँजती हुई प्रतिध्वनि नहीं है कि यदि हमारे देश को, मानव जाति को सुखी होना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि घर-घर में, ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में सब लोग आकुल होकर हर प्रकार के रचनात्मक काम में उसी तत्परता से लग जायँ जिस तत्परता के साथ वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता-संघर्ष में कूद पड़े थे।

मैं समझता हूँ कि हमारी वर्तमान समस्याओं के मुक़ाबले में स्वतन्त्रता-प्राप्ति एक कम कठिन कार्य था। उस समय हमें केवल कुछ विदेशियों की सत्ता अपने देश से मिटानी थी पर आज हमें लगभग ३५ करोड़ व्यक्तियों को सुशिक्षित करना है, अच्छे-अच्छे घर-बार देने हैं, पर्याप्त भोजन की व्यवस्था करनी है और उनके जीवन को आनन्द और संगीत से भरना है। इस कार्य के लिए हमें अपनी आर्थिक-उत्पादन-शक्ति को हजारों गुना बढ़ा लेना है, और यह काम तभी हो सकता है जब हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति अपने को सरकार पर आश्रित न समझकर अपनी शक्ति उत्पादक, सृजनात्मक और रचनात्मक कार्यों में लगा दे। इस महान् यज्ञ में साहित्य-कार ही प्रधान आहुति डाल सकते हैं और आशा है डालेंगे।

मैं इसी प्रकार के साहित्य को प्रगतिशील साहित्य मानता हूँ। आजकल कुछ लोग प्रगतिशील साहित्य का दर्जा ऐसे साहित्य को देते हैं जिसमें वर्तमान समाज के अन्तर में होने वाले श्रेणी-संघर्षों का वर्णन होता है और जो तथाकथित शोषित वर्गों को अन्य वर्गों से संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। मेरा विचार है कि भारत ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सामाजिक शोषण का अन्त करने की एक नई रीति का आविष्कार किया है। आज भारत में सामाजिक और राजनैतिक सत्ता उन लोगों के हाथ में जो इस बात में विश्वास रखते हैं कि समाज शोषण-हीन, वर्ग-हीन होना चाहिए और उसमें प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी भेद-भाव के बिना ऐसी सब सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ जिनसे वह अपने जीवन का पूरा विकास कर सके। जब हमने संसार की एक महान् शक्ति का अहिंसात्मक क्रियाशीलता द्वारा केवल मुक़ाबला ही नहीं किया बल्कि स्वराज्य प्राप्त भी कर लिया तो अब इस रचनात्मक समय में आपस में श्रेणी-संघर्ष को हिंसात्मक रूप दिये बिना नव समाज का सृजन, जिसका ध्येय सर्वोदय करना है, होना चाहिए। इसमें साहित्य यथेष्ट सहायता दे सकता है और इसलिए मैं मानता हूँ कि हमारे देश में जिस साहित्य की आवश्यकता है वह केवल ऐसा ही साहित्य है जिसमें सृष्टि और रचना की पुकार भरी हो।

मुझे आशा है कि आपका संसद् साहित्यिकों को इस दिशा में चलने के लिए

प्रेरित करेगा। मुझे यह भी भरोसा है कि आज जिस मन्दिर का शिलान्यास मैंने किया है उसमें बैठकर कार्य करने वाले साहित्यिकों को बराबर ऐसी प्रेरणा मिलेगी जिससे वे भारत और संसार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग तथा प्रत्येक मानव के जीवन में सुख-समृद्धि की स्थापना करने वाले साहित्य की रचना करें।

उस आदर के लिए, जो आपने मुझे इस मन्दिर के शिलान्यास करने के लिए निमन्त्रित करके दिया है, मैं आप सब भाई-बहनों को धन्यवाद देता हूँ और मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि आप लोगों को न केवल इस मन्दिर के बाह्य स्वरूप को सुन्दर बनाने में सफलता मिले वरन् इसमें भी सफलता प्राप्त हो कि यह मन्दिर भारतीय जन-जीवन के लिए एक चिर प्रकाश-स्तम्भ बन जाय।

७

ब्रज साहित्य[1]

मैं आप ब्रजवासियों को अत्यन्त भाग्यशाली मानता हूँ। आप उस मंडल के निवासी हैं, जो भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि है। ठीक है, उनके देहोत्सर्ग को आज अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी हैं। किन्तु इन शताब्दियों के, इन सब परिवर्तनों के बावजूद इस ब्रज-भूमि में, इसके वायु और आकाश में इसके नगरों और नगरियों में, इसकी वीथियों और बाजारों में, इसकी अट्टालिकाओं और वाटिकाओं में, मोहन की मुरलिया आज भी गूँज रही है, उनकी सुरभि आज भी बसी हुई है और उसकी काँकरी-काँकरी में आज भी उनकी पद-चाप सुनाई देती है। जहाँ हम-जैसे लोगों को यात्रा करके आने पर ही यह आनन्दामृत प्राप्त हो सकता है वहीं आपको अपनी द्वार-देहरी पर ही, अपनी बोली में ही भगवान् की झाँकी नित्य-प्रति मिलती रहती है।

भगवान् के गौरव और महिमा से आप ही नहीं आपकी बोली भी गौरवान्वित हो गई है। यह तो संसार-विदित है कि आपकी बोली अत्यन्त मधुर और कोमल है। उसमें कर्ण-कटु ध्वनियाँ तो लगभग हैं ही नहीं। बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि वह कविता और संगीत के लिए ही गढ़ी गई है। अपनी इस विशिष्टता के कारण भी ब्रज-भाषा संसार की बोलियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती, किन्तु अपनी इस ध्वनि-माधुरी से भी कहीं अधिक यह इसलिए महान है, क्योंकि यह भगवान् कृष्ण की लीला का अविरल गान है। ब्रज-भाषा का तो उनकी लीला से इतना तादात्म्य हो गया है कि उनके लीला-गान से पृथक् भी इसका अपना अस्तित्व है, यह बात केवल इने-गिने कुछ ही लोगों को ज्ञात होगी। ब्रज-भाषा की बात कीजिए और तुरन्त सबके मन में 'मैया मैं नहिं माखन खायो' प्रतिध्वनित होने लगेगा। मैं नहीं जानता कि किसी अन्य बोली का भी किसी महा विभूति की जीवन-लीला से इतना तादात्म्य है। मेरी जानकारी में तो यह गौरव ब्रज-भाषा को ही प्राप्त है।

यह भी तो कोई साधारण गौरव नहीं है। इसकी महत्ता इसी से व्यक्त है कि कृष्ण-गाथा भारतीय जन-जीवन की, भारतीय संस्कृति की, भारतीय इतिहास की अमूल्य निधि है। मैं समझता हूँ कि राम-गाथा और कृष्ण-गाथा ऐसे दो पहिये हैं जिन पर

१. ब्रज-साहित्य-मण्डल के हाथरस-अधिवेशन पर उद्घाटन-भाषण, ५ अप्रैल, १९५२।

भारतीय जन-जीवन, विशेषतया भारतीय ग्राम्य जीवन, सारी गत शताब्दियों में चलता रहा है। भारत की लगभग हर भाषा के साहित्य का अधिकांश आज इन्हीं दोनों गाथाओं के आधार पर बना है। साहित्य ही क्यों भारतीय कला का भी इन दोनों गाथाओं से बड़ा सम्बन्ध है। आजकल जिसे 'ओपेन एयर थियेटर' बोलते हैं उस प्रकार का थियेटर अनेक शताब्दियों से राम-लीला के रूप में होता रहा है और राम-लीला आबाल-वृद्ध के मन को न केवल आनन्द से ही भर देती है वरन् वह उनके चरित्र-निर्माण और आदर्श-साधन का भी बड़ा प्रबल साधन रही है। उस ही का तो यह प्रताप है कि जब भारत के ग्रामों में साक्षरता लुप्त-सी हो गई है और जब उनकी शिक्षा-दीक्षा की प्राचीन पद्धति सर्वथा मिट-सी गई है, भारत के कृषक आज भी मानवता के आदर्शों से पूर्णतया परिचित हैं। जहाँ विशाल पैमाने पर खुले स्थान में होने वाले नाटक का काम राम-लीला पूर्ण करती थी वहीं गाँव-गाँव में भक्ति-रस का संचार करने वाले नाटक के रूप में रास-लीला थी। भारत के भोले-भाले किसानों और मजदूरों को भी इसने भगवान् कृष्ण के जीवन और आदर्शों से उसी प्रकार परिचित करा दिया है जिस प्रकार कि वे अपने बाल-बच्चों से परिचित होते हैं। जहाँ अन्य प्रकार के नाटक केवल नगर वालों के मनोविनोद के लिए ही होते थे, राम-लीला और रास-लीला राजा-रंक, बाल-वृद्ध, नर और नारी, सवर्ण और अवर्ण सभी के लिए होती थीं।

इतना ही क्यों, हमारी स्थापत्य-कला, हमारी वास्तु-कला, हमारी चित्र-कला सभी में तो राम और कृष्ण की गाथा बुनी हुई है। अतः यदि मैं यह कहूँ कि हमारी संस्कृति का ताना राम और कृष्ण-गाथा रूपी दो धागों से पूरा गया है तो उस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी। ठीक है, उसके बनाने में यूनानी, अरब, ईरानी, शक, हूण और न जाने कितने अन्य धागे लगे हैं और उसका वर्तमान स्वरूप इन सभी के रंग से रँगा हुआ है। किन्तु वे इन्हीं दोनों गाथाओं के ताने में आकर बुनी गई है। अतः सूर्य-चन्द्र के समान ये दोनों गाथाएँ हमारे सारे जीवन को ज्योतिर्मय कर रही हैं और प्रेरणा-प्रदान कर रहीं हैं, करती रही हैं और मुझे अटल विश्वास है कि सर्वदा करती रहेंगी।

मैं समझता हूँ कि इन गाथाओं का हमारे जन-मन और जन-जीवन पर इतना प्रभुत्व इसीलिए है कि ये दोनों मानव-हृदय की श्रेष्ठतम भावनाओं और वेदनाओं की मूर्तिमती प्रतिमा हैं। संसार में विरला ही कोई व्यक्ति होगा जो इन गाथाओं से ऐसे नये जगत् की झाँकी न पा लेता हो जहाँ पहुँचने को मानव पृथ्वीतल पर अपनी लीला प्रारम्भ करने के दिन से ही लालायित रहा है। कला की दृष्टि से और मानवादर्शों की दृष्टि से ये अत्यन्त ही उत्कृष्ट और जीवना-दायिनी हैं। इनकी

विशद व्याख्या करने का यह अवसर नहीं है। किन्तु इनमें से कृष्ण-गाथा के सम्बन्ध में कुछ कहे बिना मैं आपके कार्य के गुरुत्व को ठीक शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता और इसलिए यहाँ मैं इसके एक विशिष्ट पहलू की ओर दृष्टि खींच देना चाहता हूँ।

कृष्ण-गाथा में कुछ ऐसा जादू है कि न केवल भारत-भूमि में जन्मे और पले व्यक्ति ही इसमें लीन हुए हैं वरन् भारत में आने वाले विदेशी भी इसके पीछे पागल हो उठे हैं। इतिहास साक्षी है कि यवन और शक, जो भारत में व्यापार अथवा विजय के लिए आये वे भी भगवान् कृष्ण के उपासक बन गए। इतना ही क्यों, मध्यकालीन भारत में जो तुर्क और मुग़ल आये वे भी कृष्ण-गाथा के रंग में रँग गए। ताज ने पुकारकर कहा: 'हौं तो मुगलानी, हिन्दवानी ह्वै रहूँगी मैं' और आलम ने 'ता थल काँकरी बैठि चुन्यों करें' का इरादा किया। मियाँ रसखान तो 'प्रेम देव की छबि निरखि भये मियाँ रसखान।' इतना ही नहीं उनकी इच्छा यह भी हुई कि यदि इस मर्त्य लोक में उन्हें फिर आना पड़े तो उनकी यही प्रार्थना होगी :

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गाँव गुवारन,
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन,
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियौ ब्रज-छत्र-पुरन्दर कारन,
जो खग हौं तो बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

आख़िर वह कौन सी बात है जिसके कारण भारतीय और अभारतीय सभी कृष्ण-गाथा से इतने प्रभावित हुए। मैं समझता हूँ कि इसका कारण यह है कि इसमें मानव की परमात्मा के प्रति भक्ति और मानव की सौंदर्योपासना का इतना घनिष्ठ और सहज संयोग है कि कोई भी व्यक्ति इसके आकर्षण से बच नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि कृष्ण-गाथा में ईश्वर-भक्ति रूप की प्रतिमा बनकर प्रकट हुई है तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः धर्म और रूप-पिपासु इसकी ओर जाये बिना रह नहीं सकते। यह कहना अनुचित न होगा कि एक दृष्टि से सारी मानव-जाति को धर्म-पिपासु और रूप-पिपासु इन दो ही वर्गों में बाँटा जा सकता है। अतः जहाँ धर्म और रूप दोनों की ही तृप्ति होती हो वहाँ तो मानव-जाति के प्रति व्यक्ति को आत्मिक तृप्ति मिलेगी ही। उदाहरणार्थ कवि-शिरोमणि सूरदास के कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इस प्रसिद्ध पद को लीजिए :

मैया मैं नहिं माखन खायो
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो
तु हीं निरखि नान्हे कर अपने, मैं कैसे कर पायो
मुख दधि पोंछ बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठ दुरायो
डारि साँटि मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायो

बालविनोद मोद मन मोह्यो, भक्ति प्रताप दिखायो
'सूरदास' यह जसुमति को सुख, सिव विरंचि नहिं पायो।

कृष्ण की यह बाल-छवि इतनी मोहक है कि इस पर कौन सा ऐसा दिल-वाला आदमी है जो बलिहारी न हो जायगा। इसी प्रकार गोविन्द स्वामी का यह पद लीजिये :

हौं बलिजाउँ कलेऊ कीजै
खीर खाँड घृत अति मीठी है, अबकि कौर बछ लीजै
बैनी बढ़ै सुनो मन मोहन, मेरो कह्यो पतीजै
औट्यो दूध सद्य धौरी को, सात घूंट जो पीजै
हौं वारी या वदन कमल पर, अंचल प्रेमजल भीजै
बहुरि जाय खेलों जमुना तट, गोबिंद सँग कर लीजै।

इसमें भी भक्ति और सौन्दर्य का वही समन्वय है। रूप और भक्ति का काव्य के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी कृष्ण-गाथा ने बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। सारा भारतीय संगीत और भारतीय नृत्य का पर्याप्त विशिष्ट अंग कृष्ण की ही भक्ति के चारों ओर घूमता है। आज भी चाहे हिन्दुस्तानी संगीत हो और चाहे कर्नाटकी संगीत, इन दोनों ही में तो राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिध्वनित हो रही है। हिन्दुस्तानी संगीत के प्रमुख कलाकारों में अनेक मुसलमान उस्ताद हैं और रहे हैं किन्तु जब पक्का राग वे गाते हैं तो वही राधा-कृष्ण-लीला-सम्बन्धी। उन्हें क्षण-भर के लिए भी नहीं लगता और मैं समझता हूँ कि यह उचित ही है कि वे कोई ऐसी बात कर रहे हैं जो उनके लिए अनुचित है। मैंने देखा है अनेक उस्ताद इन राधा-कृष्ण के पदों में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपने तन-मन की सुधि नहीं रहती और उनकी आँखों से अविरल धारा बहने लगती है। इसी प्रकार भारतीय नृत्य से राधा-कृष्ण की लीला हटा दी जाय तो उसका अधिकांश आकर्षण जाता ही रहेगा। अतः कला के क्षेत्र में कृष्ण-गाथा ने यहाँ के सभी विभिन्न भाषा-भाषी लोगों को, सभी धर्मावलम्बियों को, ऐसे सूत्र में बाँध दिया है जो केवल आत्मा का सम्बन्ध है। इस प्रकार उसने भारत की विभिन्न जातियों और विभिन्न प्रदेशों के लोगों के एकीकरण का अभूतपूर्व ऐतिहासिक कार्य किया है।

इस अभूतपूर्व ऐतिहासिक कार्य से आपके उत्तरदायित्व की गुरुता कहीं अधिक बढ़ जाती है। इस महान् कृष्ण-गाथा का आज अन्य भाषाओं से अधिक साधन और वाहन होने के नाते ब्रज-भाषा का आज बड़ा महत्त्व है। उसका, उसके बोलने वालों का, उसके कलाकार और साहित्यकारों का यह पवित्र कर्तव्य है कि इतिहास के इस गुरु भार को यथाविधि पहचानें और उसके वहन करने को प्रस्तुत हों। रूप और भक्ति के इस मिलन को और भी दृढ़ बनाना, उसको अनेक प्रकार से अभिव्यक्त

करता ब्रज-भाषा के उपासकों का धर्म है। भारत को आज उस प्रकार के मेल की आवश्यकता है, क्योंकि इस मेल के बाद किसी प्रकार के धार्मिक द्वेष और असहिष्णुता का प्रश्न तो पैदा हो ही नहीं सकता। जो रूप और धर्म दोनों का ही एक-सा उपासक है उसके लिए यह सम्भव नहीं कि उनमें से किसी एक की खातिर किसी प्रकार का अनाचार अथवा अत्याचार करे। उसी भक्ति और रूप के मेल से हमारे देश के विभिन्न तत्त्वों को एक दूसरे से मिलने का पूरा अवसर होगा। केवल रूप की उपासना मानव को गड्ढे में गिरा सकती है और केवल पंथ का अनुदार आग्रह मानव को अशान्ति के पथ पर ले जा सकता है। किन्तु जब वे दोनों मिल जायँगे तब इस प्रकार की क्षति की संभावना लगभग नहीं के बराबर ही रहेगी। इसलिए मेरा विचार है कि आपकी यह संस्था अपने भावी कार्य-क्रम को इसी उद्देश्य के अनुकूल बनायगी जिससे कि यह उस काम को पूरा करने में सहायक हो जो ब्रज के प्राचीन इतिहास, व मुरली मनोहर की लीला ने इसके ऊपर रख दिया है।

इस भार की गुरुता इस बात से और बढ़ गई है कि ब्रज-भाषा के इतिहास से स्पष्ट है कि जनता की और विशेषतया सरल ग्रामीण जनता की अपनी बोली में इतनी उच्च कोटि का साहित्य हो सकता है जो युग और देश का प्रतीक और प्राण ही न हो, वरन् अनन्त काल तक नर-नारियों के जीवन में प्रतिध्वनित भी होता रहे। हमारे देश में तो यह विश्वास भी रहा है कि नगर के बजाय जनपद में स्थित वनों और आश्रमों में ही मानव को वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है जो उत्तम काव्य के लिए आवश्यक है। रामायण, महाभारत इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता नगरों के वासी न होकर आश्रमों के ही ऋषि-मुनि थे। अतः हमारे देश में जनपद और नगर की संस्कृति में कुछ अधिक अन्तर न था। हाँ, नागर कुछ बातों में चतुर अवश्य होते थे। किन्तु जहाँ तक कला और काव्य का प्रश्न था उस में ग्रामवासियों की जितनी देन है उतनी सम्भवतः नगरवासियों की नहीं है। तुलसीदास, सूरदास इत्यादि महान् भक्त-कवि ग्रामों की ही सन्तान तो थे। दुर्भाग्यवश विदेशी राज्य में हमारे नगरों और ग्रामों में संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त विभेद हो गया। जहाँ ग्राम इसी भूमि और इसी आकाश की वस्तु रहे वहाँ नगरों का, प्रचलित शिक्षा-पद्धति के कारण, रिश्ता सुदूर यूरोप और इंग्लैण्ड से भारत-भूमि की अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ हो गया। अतः बहुतेरे नगरवासियों अर्थात् नवशिक्षित वर्ग के लोगों को, भारत की ऐतिहासिक विरासत की अपेक्षा यूरोप की संस्कृति ने अधिक प्रभावित किया। मेरे इस कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि विदेशों की किसी बात को अच्छा समझना या अपनाना कोई बुरी बात है। वैसा तो होना

चाहिए, किन्तु हममें से हरेक को यह भी समझना चाहिए कि हमारा जीवन यहाँ की वायु, यहाँ के आकाश, यहाँ के इतिहास से इतना जकड़ा हुआ है कि उनसे अलग होना अपने अस्तित्व को उसी तरह से खतरे में डाल देना है जैसे कि शरीर पर से खाल को छील देने से उसका बना रहना असम्भव हो जाता है। अतः अब समय आ गया है कि स्वतन्त्र भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी जनता से गठबन्धन और भी दृढ़ कर ले और जन-जीवन से किसी प्रकार भी कटा-कटा न रहे। इसका आशय यह है कि हमारी साहित्य-साधना यहीं के लोगों के जीवन और प्रकृति के स्वरूप से प्रेरित होनी चाहिए। यदि ऐसा हमने किया तो हमारा साहित्य गमले का पुष्प न रहकर जन-जीवन के प्राकृतिक बसन्त में प्रफुल्लित सर्वव्यापी सौरभमय झाड़ी और वन बन जायगा। यदि कबीर, सूरदास और तुलसीदास आज भी जन-जीवन के प्राण बने हुए हैं, यदि उनके पद आज भी खेती में काम करने वाले नर-नारियों के मुख से सुनाई पड़ते रहते हैं तो उसका कारण यही है कि उन्होंने जनता के हृदय की धड़कन को ही कविता का रूप दिया।

जब सूरदास गाते हैं कि :

"सुने री मैंने निरबल के बल राम,
पिछली साख भरूँ संतन की, अड़े सँवारे काम।"

तो वह गान क्या पंडित और क्या अपढ़, क्या किसान और क्या मजदूर के हृदय में इसलिए गूँज उठता है, क्योंकि वह उसी की बोली में है जिसे वह खेत में, चौपाल में, और पनघट पर दिन-प्रतिदिन सुनता है और बोलता है और उसमें उसी वेदना की ध्वनि है जो उसके अपने हृदय में खटक रही है। अतः आप ब्रज-भाषियों पर इतिहास का यह भार भी है कि आप साहित्य को नगर की चेरी बने रहने देने के बजाय जन-जीवन का प्रतिनिधि बना दें।

किन्तु इसके साथ-ही-साथ मैं आपसे यह भी कहूँगा कि जन-बोली में जन-जीवन का ही गान करने की बात का किसी को यह आशय न लगा लेना चाहिए कि वह केवल किसी प्रदेश का ही बन्दी बन जाय। आप जानते हैं कि मानव-हृदय, प्रदेश के साथ-साथ ही सारे संसार का भी होता है। मानव की मूलभूत वृत्तियों और वेदनाओं में संसार-भर में साम्य है और इसीलिए महान् साहित्य वह है जो प्रदेश की खिड़की से मानवता की झाँकी दिखा दे। इसलिए जन-जीवन में अपनी जड़ें फैलाने के साथ ही आपको अपने मस्तक को खुले आकाश में और सूर्य के प्रकाश में ऊपर उठाए रखना चाहिए और जहाँ से भी वायु और प्रकाश आता हो वहीं से उसको लेना चाहिए। ऐसा करने के लिए आपको दो बातों को पूरा करने का प्रयास करना होगा। पहली बात तो यह है कि आपको संसार के सब समृद्ध साहित्यों से पूरा-पूरा लाभ उठाना

होगा। दूसरी बात आपको यह करनी होगी कि अपनी विशिष्ट बोली का भारत की अन्य बोलियों से सम्बन्ध बनाए रखना होगा। आधुनिक संसार में अपने घरों में ही बन्द होकर बैठने की भावना प्रत्येक वर्ग के लिए हानिकर ही नहीं बल्कि घातक भी सिद्ध हो सकती है। मानव-जाति जिस स्थिति में है उसमें यह आवश्यक है कि अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हुए भी प्रत्येक भाषा अथवा धर्म पर आश्रित समूह अन्य समूहों से पूरी तरह से सहयोग और समन्वय करने के लिए तत्पर रहे। इसी प्रकार के समन्वय से आधुनिक हिन्दी का रूप बना है। उसमें अवधी, मैथिल, भोजपुरी, ब्रज, बुन्देलखण्डी इत्यादि बोलियों का समन्वय हुआ है और उन सब के साहित्य से ही उसका भण्डार भरा है। काव्य की दृष्टि से यह भण्डार कुछ कम नहीं है। जिसमें तुलसी की विनय-पत्रिका और रामचरित-मानस, सूर के सूर-सागर-जैसे ग्रन्थ हों वह भाषा भी संसार की किसी भी भाषा के काव्य-साहित्य से टक्कर ले सकती है, और उसके लिए इस प्रदेश की सब बोलियों के लोगों को गर्व हो सकता है, क्योंकि यह इन सबकी सम्मिलित सम्पत्ति है। आपका धर्म है कि अतीत की इस महान् देन से अनुप्राणित होकर इस भण्डार को और भी भरपूर करने में लग जायें।

ऐसा करने के लिए आपको कुछ बातें करनी ही होंगी। आपको प्रथमतः इस बात का प्रयास करना चाहिए कि हमारी जनता को ब्रज-भाषा का भक्ति-काव्य कम पैसों में मिल सके। उसके अधिकृत संस्करण भी आपको निकालने का प्रबन्ध करना चाहिए। पहले से ही आपने गवेषणा का कुछ काम अपने हाथ में लिया है। उसे आपको और भी बढ़ाना चाहिए, और विशेषतया इस बात की वैज्ञानिक समीक्षा करनी चाहिए कि किन परिस्थितियों और किन भावनाओं के कारण ब्रज-साहित्य का वह रूप बना जो उसका है। इसके साथ ही आपको भक्ति और रूप की आनन्द-धारा से हमारे जन-जीवन को प्लावित करने के लिए रास-लीला को पुनर्जीवित करने का भी विचार करना चाहिए।

इतिहास ने आपको भारी देन दी है और दिया है उतना ही गुरु भार। यह आपकी लगन और यौवन को चुनौती है कि आप इस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व को उसी लगन से पूरा करें जिस लगन से सूरदास ने भगवान् कृष्ण की भक्ति अपने देशवासियों के जीवन में भर दी थी और इस देश को उसी मुरली की तान से फिर भर दें जिस मुरली की ध्वनि किसी युग में कालिन्दी के तटवर्ती कुञ्जों को गुञ्जित किया करती थी।

८

संस्कृत-वाङ्मय[1]

दस वर्ष हुए होंगे महाराजाधिराज श्री कामेश्वरसिंह ने मुझे श्री मिथिलेश महेश रमेश-व्याख्यान-माला में बिहार के विद्वानों की मंडली के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रण दिया था। उस समय मैंने अपने विचार दो व्याख्यानों के रूप में प्रकट किए थे। वे व्याख्यान पुस्तकाकार 'संस्कृत का अध्ययन' नामक पुस्तक में छपे थे। उन व्याख्यानों में मैंने संस्कृत-वाङ्मय की महत्ता और पूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित किया था तथा संस्कृत-वाङ्मय में उपलब्ध भाषा-ज्ञान, व्याकरण, वर्णमाला, लिपि और अंक के सम्बन्ध में और विशेषकर पाटी-गणित या अंक-गणित, बीज-गणित, रेखा-गणित, ज्योतिष, भौतिकी, वैद्यक, शल्य-चिकित्सा, शरीर-रचना-विज्ञान, धातु-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, कृषि और बागबानी, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत, नृत्य-कला, आदि विषयों का दिग्दर्शन कराया था और अन्त में संस्कृत के अध्ययन की जो आज परिपाटी प्रचलित है उसमें संशोधन की आवश्यकता और उपयोगिता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया था। मुझे आज यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि उस वाङ्मय के अध्ययन और उसमें उपलब्ध सामग्रियों का आधुनिक रूप से अन्वेषण करने के लिए यह संस्था आज यहाँ स्थापित की जा रही है।

मैं मानता हूँ कि संस्कृत का अध्ययन केवल हमारे ही लिए नहीं बल्कि संसार की समस्याओं के सुलझाने में भी सहायक हो सकता है और इसलिए मेरा अनुरोध है कि हमारे शिक्षणालयों में इसे काफ़ी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। मैंने उस भाषण में यह भी कहा था कि मैं स्वयं संस्कृत का विद्वान् नहीं हूँ पर जो कुछ मैंने विद्वानों से सुना है और उनकी खोज और अध्ययन के फलस्वरूप उनके विचार ग्रन्थों में पढ़े हैं, उनके आधार पर मेरा यह विश्वास हो गया है कि आज हमारी सारी जिन्दगी जैसी बनी है उसका मूल आधार हमारे संस्कृत के ग्रन्थों में मिलता है। वैसे ही दूसरे विद्वानों के विचारों के आधार पर संस्कृत के वाङ्मय में जो साहित्य उपलब्ध है मैं उसके सम्बन्ध में आज कुछ बता देना चाहता हूँ। जो संस्कृत के विद्वान् हैं उनको यह बताना अनावश्यक है। जो संस्कृत नहीं जानते, वे आज की शिक्षा-पद्धति के कारण उन्हीं बातों पर अधिक ध्यान देते हैं जो

---

१. संस्कृत रिसर्च इन्स्टीट्यूट दरभंगा के शिलान्यास के अवसर पर दिया गया भाषण, २१ नवम्बर, १९५१।

पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं या ऐसे भारतीय कहते हैं जो पाश्चात्य विद्या से स्वयं प्रभावित हुए हैं। इसलिए ऐसे लोगों के विचारों के कुछ उद्धरण दे देना ही इस काम के लिए पर्याप्त समझता हूं और आशा करता हूं कि अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग संस्कृत-विद्या के महत्त्व को समझेंगे और उसको पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करने में सहायक बनेंगे।

संस्कृत-वाङ्मय भारत के लिए ही क्यों सारी मनुष्य जाति के लिए अत्यन्त अमूल्य निधि है। उसकी प्राचीनता, उसकी व्यापकता, उसकी विशदता, उसका सौन्दर्य और मधुरता सभी तो ऐसी हैं जिनसे न केवल मानव की आज तक की संस्कृति का सारा इतिहास ज्योतिर्मय हो उठता है वरन् मानव का हृदय आनन्द से विभोर हो जाता है और उसको एक ऐसे नये आदर्श लोक की झाँकी मिल जाती है जिसमें पहुँचने पर ही उसका जीवन सार्थक हो सकता है और उसे भव-बाधा से मुक्ति मिल सकती है।

मानव जाति के सांस्कृतिक विकास का चित्र तो संस्कृत-वाङ्मय की सहायता के बिना बनाया जा सकता ही नहीं। संसार-भर में अन्य कोई ऐसी जाति नहीं है जो इतना प्राचीन साहित्य सुरक्षित रख पाई हो जितना प्राचीन साहित्य कि हम भारतीय रख पाए हैं। ऋषियों के अपने ही शब्द सुरक्षित हैं और उनमें हम उस काल का चित्र स्पष्टरूपेण रेखांकित कर सकते हैं। वह चित्र हमारे प्राचीन इतिहास के निर्माण में आज तो सहायक है ही, और आगे भी रहेगा। आज संसार-भर में ऐसा कोई विद्वान् नहीं जो यह न मानता हो कि भारतीय वाङ्मय से मानव जाति के प्राचीन इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

यह केवल इसलिए ही नहीं कि भारतीय वाङ्मय अन्य सब देशों के वाङ्मय से प्राचीन है वरन् इसलिए भी कि प्राचीन सभ्य संसार का ऐसा कोई प्रदेश नहीं था जहाँ वह किसी-न-किसी रूप में फैल न गया हो। चीन से लेकर आयर्लैंड तक और स्कैंडीनेविया से लेकर स्वर्ण-दीप-माला तक भारतीय वाङ्मय का प्रभाव फैला। यह तो सब जानते ही हैं कि भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हजार वर्ष से अधिक पूर्व चीनी भाषा में, तिब्बती में, तत्पश्चात् जापानी भाषा में हो गया था और वह चीनी, तिब्बती और जापानी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया था। बाली, जावा सुमात्रा और कम्बोज (कम्बोडिया) में भी भारतीय वाङ्मय का बोल-बाला था और वहाँ की संस्कृति का मुख्य आधार था। पर इस बात को बहुत लोग नहीं जानते कि उसका प्रसार मध्य-पूर्व और यूरोप में भी कुछ कम नहीं हुआ। इस बारे में तो कोई शंका है ही नहीं कि अब्बासी खलीफ़ाओं के काल में भारत के कितने ही विद्वान् उनकी राजधानी में गये और वहाँ उन्होंने भारतीय ज्ञान से उन लोगों को परिचित कराया और भारतीय वाङ्मय के कुछ ग्रन्थों का उनकी राज-भाषा में अनुवाद भी किया। किन्तु

इस बात के भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि मध्य पूर्व और यूरोप की प्राचीन संस्कृति पर भी भारतीय वाङ्मय का अच्छा, खासा प्रभाव पड़ा था और जहाँ तक वहाँ के प्राचीन कहानी-साहित्य का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि वह तो बहुत-कुछ भारतीय साहित्य का नया रूपान्तर है। साथ जगत की सब जातियों के हृदय में पैठ जाने के कारण आज वह उनकी सांस्कृतिक चेतना का अभिन्न अंग बन गया है और इसलिए उनके सम्यक् अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इस मूल संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन किया जाय। इसी सत्य की ओर संकेत करते हुए विण्टरनित्ज़ ने जर्मन-भाषा में अपने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में कहा है "अपनी प्राचीनता, विशाल भू-भाग में अपने विस्तार, अपनी विशदता और समृद्धि कला की उत्कृष्टता और सबसे अधिक संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से इस महान् मूल और प्राचीन वाङ्मय का रुचि से अध्ययन हमारे लिए वाञ्छनीय है।" आगे चलकर वह कहता है कि "यद्यपि भारतीय उसी रक्त-मांस के नहीं जिसके हम हैं तथापि अब भी यह सम्भव है कि भारतीय विचार-जगत् में हमें अपनी सांस्कृतिक आत्मा मिल जाय। यदि हम अपनी संस्कृति के प्रभाव को समझना चाहते हैं तो हमें भारत की शरण लेनी चाहिए जहाँ कि इण्डो यूरोपियन जाति का प्राचीनतम वाङ्मय अब भी सुरक्षित मौजूद है।" आगे चलकर वह यह और कहता है कि "हमारे अपने साहित्य पर भारत के साहित्य ने जो प्रभाव डाला है उसको भी हमें कम न मानना चाहिए। हम देखेंगे कि यूरोप के वर्णनात्मक साहित्य का बहुत-कुछ आधार भारत का कथा-साहित्य है। खास तौर से जर्मन-साहित्य और जर्मन-दर्शन तो १८ वीं सदी के प्रारम्भ से भारतीय विचारों से बहुत प्रभावित हुए हैं और सम्भवतः यह प्रभाव आज भी बढ़ता ही जा रहा है और इस सदी में तो सम्भवतः कहीं अधिक बढ़ जायगा।" विण्टरनित्ज़ का यह कथन आज भी उतना ही क्यों, उससे भी अधिक सत्य है। जब उसने यह बात कही थी तब मोहोञ्जोदाड़ो के भग्नावशेषों का पूरा अध्ययन न हुआ था। तब से तो भारतीय इतिहास की प्राचीनता कहीं अधिक बढ़ गई है और मेरे विचार में तदनुकूल ही भारतीय वाङ्मय की ओर खास तौर से प्राचीन संस्कृति के इतिहास के लिए वैदिक वाङ्मय की महत्ता और भी बढ़ गई है। यह कहना तो अनावश्यक ही है कि अपनी जनता के मन को और उसके हृदय को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्तियों के यथोचित अध्ययन के लिए तो संस्कृत-वाङ्मय का महत्त्व अपरिमित है। हमारे जातीय जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं जो हमारे संस्कृत-वाङ्मय में प्रतिपादित सिद्धान्तों और उसमें अभिव्यक्त आदर्शों और वेदनाओं से ओत-प्रोत हो।

मानव-संस्कृति को समझने के लिए, उसमें अपनी जाति का स्थान जानने के लिए और अपनी जातीय आत्मा को पहचानने के लिए ही नहीं वरन् कला के

सर्वोत्कृष्ट रूप से आनन्द-विभोर होने के लिए भी हमारे लिए, और हमारे ही लिए क्यों संसार-भर के लिए, संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन आवश्यक है। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं, मानव-अभिव्यक्ति की ऐसी कोई रीति नहीं, कला का ऐसा कोई रूप नहीं जिसमें संस्कृत वाङ्मय पूर्णता को न पहुँचा हो। समाज और व्यक्ति, राजा और रंक, नागरिक और ग्रामीण, मानव और पशु-पक्षी, सभ्य और असभ्य, चेतन और जड, आत्मा और परमात्मा, सब ही की बात तो उस वाङ्मय में हृदयस्पर्शी और अनूठे ढंग से कही गई है। मानव-हृदय का ऐसा कोई प्रकोष्ठ नहीं जो उसकी दृष्टि से छिपा रह गया हो या जिसके अन्तर्तम की बात अत्यन्त कौशल से व्यक्त न कर दी गई हो। प्रकृति का ऐसा कोई स्वरूप नहीं जिसका सुन्दर और सही चित्र वहाँ मौजूद न हो। समाज का ऐसा कोई पहलू नहीं जिसकी व्याख्या और उसके अन्तर्गत काम करने वाले आदर्शों, वेदनाओं और व्यसनों का हू-बहू चित्र वहाँ न हो और मानव जाति के भविष्य और भाग्य से, सुख और कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कोई प्रश्न नहीं जिसका विचारपूर्ण और यथोचित उत्तर वहाँ मौजूद न हो। पशु-पक्षी के जीवन का वैसा बारीक और सही वर्णन और मानव-जीवन में उनके महत्त्व की वैसी व्याख्या और उसके प्रति वैसी सद्भावना तो संसार की किसी भी अन्य जाति के साहित्य में पाई जाती ही नहीं।

उसमें यदि विद्वानों और वयस्कों के लिए सामग्री है तो जन-साधारण और बालकों के लिए भी सामग्री भरी पड़ी है। गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और निशाचरों की अद्भुत सृष्टि और चमत्कारिक शक्ति तथा कृत्यों का वहाँ ऐसा और इतना काफ़ी वर्णन है कि आद्भुत्य से प्रसन्न होने वाली बालक जाति को अपनी चाहना को पूरा करने की अनन्त सामग्री मिल जाती है। स्मृति में सहज ही घर कर लेने वाली ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें जीवन का ज्ञान भरा है और जिनके सुनने और मन में डाल लेने से ही साधारण जन भी ज्ञानवान बन जाते हैं और ऐसी कथाएँ हैं जिनको सुनने-मात्र से ही अपढ़ भी पण्डित हो जाते हैं।

साथ ही कला की दृष्टि से भी उसमें वह चमत्कार भरा है जो कदाचित् ही अन्यत्र पाया जाता हो। घट में समुद्र भरने की कहावत यदि कहीं ठीक अर्थों में पूरी हुई है तो संस्कृत-वाङ्मय में ही। अर्थ और शब्द-साम्य जितना संस्कृत-वाङ्मय में मिलता है वह और किसी अन्य साहित्य में नहीं मिलता। यदि अलंकारों की शोभा और शब्द-व्यंजना का उत्कृष्ट चमत्कार देखा जा सकता है तो वह भी संस्कृत-वाङ्मय में। यदि विचार की सूक्ष्मता और दर्पण-सम-चित्रण देखना हो तो वह भी अन्यत्र ऐसा नहीं मिलेगा जैसा संस्कृत-वाङ्मय में। थोड़े शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-वाङ्मय ही ऐसा वाङ्मय है जिस में शब्दों की सर्वोत्तम व्यंजना हुई है। यह

ठीक है कि पाश्चात्य विद्वानों की इनमें से कुछ बातें साहित्यिक दृष्टि से ठीक नहीं मालूम होतीं और वे अलंकार-बाहुल्य और सूत्र इत्यादि की साहित्यिक दृष्टि से इनकी निन्दा करते हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि साहित्य की उनकी अपनी मान्यताएँ हमसे भिन्न हैं और उनका दृष्टिकोण वर्तमान संसार के दम मारने की फ़ुरसत न देने वाली सभ्यता के प्रभाव से रंजित है। इसलिए उनको शब्दों के इन चमत्कारिक प्रयोगों से कोई आनन्द नहीं मिलता। किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस बात का अनुमान कि शब्द कितना बड़ा जादू संस्कृत-वाङ्मय के अध्ययन से ही हो सकता है।

केवल संस्कृत भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति करने में ही यह वाङ्मय अतुल नहीं है वरन् अभिव्यक्ति की ऐसी कोई रीति नहीं जिसमें इसने चोटी की सफलता प्राप्त न की हो। क्या गद्य, क्या पद्य, क्या नाटक, क्या गीत-काव्य, सभी में तो संस्कृत लेखक सिद्धहस्त रहे हैं। जैसा कि विण्टरनित्ज़ लिखता है "भारतीय साहित्य में वह सभी कुछ है जो साहित्य शब्द के व्यापकतम अर्थ में निहित है अर्थात पद्यात्मक, पारलौकिक और ऐहिक काव्य, महाकाव्य, गीत-काव्य, नाटक और नीति-काव्य और साथ ही वर्णनात्मक और वैज्ञानिक गद्य।"[1]

ईसवी शती के पहले ही हमारे यहाँ काव्य के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में ही अत्यन्त उत्तम कृतियाँ हो चुकी थीं। यह ठीक है कि अभी तक संस्कृत-वाङ्मय का काल-क्रम निर्विवादरूपेण स्थिर नहीं हो पाया है। किन्तु फिर भी यह बात तो लगभग सर्वसम्मत ही है कि ईसा पूर्व १५०० से लेकर ईसा पश्चात् १००० तक संस्कृत-वाङ्मय का कोष अमूल्य-ग्रन्थ-रत्नों से भरपूर हो चुका था और इनमें अनेक अनुपम ग्रन्थ तो ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कई सदी पूर्व ही लिखे जा चुके थे। परा विद्या में उपनिषदों जैसे ग्रन्थ, महाकाव्य में 'रामायण' और 'महाभारत'-जैसे ग्रन्थ, और दृश्य-काव्य में भास के जैसे नाटक उस समय तक संस्कृत-वाङ्मय के अंग हो गए थे। इनकी तुलना के अथवा इनके समान हृदयस्पर्शक और रसमय ग्रन्थ मेरे विचार में संसार-भर के साहित्य में और कोई नहीं हैं। यह ठीक है कि पाश्चात्य विद्वानों में से बहुत से यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं कि संस्कृत-साहित्य यूनान के साहित्य से भी उत्कृष्ट है किन्तु उनको भी यह तो स्वीकार करना पड़ता ही है कि उस काल का संस्कृत-वाङ्मय लगभग उतना ही उत्कृष्ट था। यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यह बात निर्विवाद रूपेण माननी होगी कि 'रामायण' और 'महाभारत'-जैसे महाकाव्य संसार की किसी जाति के भी साहित्य में नहीं हैं।

---

[1] उसी में विषय-प्रवेश पृष्ठ १।

संस्कृत-साहित्य की अपेक्षाकृत इस उत्कृष्टता का कारण कुछ सीमा तक संस्कृत भाषा की अपनी प्रकृतिजन्य विशिष्टता है। इसका व्याकरण और शब्द-भंडार कुछ ऐसा है कि शब्दों की व्यंजना इतनी खूबी और इतने अर्थभरे ढंग से हो सकती है जितनी कि संसार की किसी भी अन्य भाषा में, चाहे फिर वह प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, नहीं हो सकती। उसमें समास की पद्धति के कारण गागर में सागर भरा जा सकता है जब कि अन्य भाषाओं में यह उस सीमा तक न कभी सम्भव हुआ है और न हो सकता है। भर्तृहरि की कविता की आलोचना करते हुए संस्कृत-भाषा के इस गुण की ओर कीथ संकेत करता है। वह लिखता है कि "समस्त पद करने की संस्कृत की असाधारण शक्ति भर्तृहरि की कविता में अपना सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखाई देती है। मन पर (उसकी कविता का) यही प्रभाव पड़ता है कि उसमें ऐसी एकता है जिसके सब खंड अपने निहित स्वभाव के कारण अपना अस्तित्व खोकर एक हो गए हैं और इस प्रकार जो असर मन पर पड़ता है वैसा असर अंग्रेजी-जैसी विश्लेषणात्मक भाषा द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें इसी प्रकार की बात का ढीली गाँठ से बंधे हुए कई निपातों द्वारा ही व्यक्त करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता और यह तो सम्भव है ही नहीं कि व्यक्त किये जाने वाले विचार की एकता के अनुरूप ही संश्लेषणात्मक रीति से एकता रखने वाले वाक्य के द्वारा वह व्यक्त किया जा सके।"[1] समासों के साथ-साथ संस्कृत शब्दों के बहु-अर्थी होने के कारण संस्कृत-काव्य में जैसी चमत्कारिक श्लेषों की सृष्टि की जा सकती है वैसी और किसी भाषा में नहीं की जा सकती। सन्ध्याकर नन्दिन ने 'रामपाल-चरित' नामी जो लघुकाव्य इस विचार से लिखा कि उसका प्रत्येक पद भगवान् राम और कवि के समकालीन राजा रामपाल दोनों के चरित्र का वर्णन एक साथ करता है। उसकी आलोचना करते हुए कीथ लिखता है कि "यह काम जो देखने में असम्भव प्रतीत होता है, संस्कृत की अपनी सहज प्रकृति के कारण बिना किसी विशेष कठिनाई के किया जा सकता है। कविता की प्रत्येक पंक्ति को एक पद मानकर उसका पद-विश्लेषण प्रत्येक बार विभिन्न रीति से ऐसा किया जा सकता है जिसमें विभिन्न पदों को साथ मिलाने से विभिन्न अर्थ-वाले शब्द बन जायं। साथ ही समस्त पदों का अर्थ भी विभिन्न प्रकार के समास मानकर विभिन्न किया जा सकता है, चाहे फिर समस्त पदों में आने वाले शब्दों का अर्थ बराबर एक ही क्यों न किया जाय और समस्त पद का अन्वय समान पदों से ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त यह भी विशेष महत्व की बात है कि संस्कृत-कोष में शब्दों के बहुत प्रकार के अर्थ होते हैं।"[2] संधि और समास-पद्धति के कारण

[1] संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७८।
[2] संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३७-३८।

और शब्दों के बहु-अर्थी होने के कारण संस्कृत-भाषा में ऐसा स्वाभाविक लोच है कि उसको किसी भी स्वरूप और प्रयोजन के अनुरूप गढ़ा जा सकता है।

इस आन्तरिक गुण के अतिरिक्त संस्कृत-वाङ्मय का विकास ऐसे वातावरण में हुआ जो भौगोलिक और जातिगत दोनों ही दृष्टियों से बहुरंगी था। भारत विशाल देश है। उसमें हर प्रकार का जल-वायु और अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्य, अनेक जातियों के फूल-पौधे, पशु-पक्षी और विभिन्न रंग-रूप और रिवाज वाली जातियाँ पाई जाती हैं। अतः इस सतरंगी पृष्ठभूमि पर भारत के कलाकार यदि अनेक प्रकार के सुन्दर शब्द-चित्र बना सकें तो यह कुछ अस्वाभाविक बात नहीं थी। एम० विलियम लिखता है कि "भारत में सम्पूर्ण प्रकृति के स्वरूप के अनुरूप ही साहित्य भी अत्यत विशद मात्रा में है। हिमालय की मनमोहिनी छटा में और अद्भुत कल्पना को उत्तेजित करने वाली जलवायु से पोषित कविता का विकास प्राचांदिग् की भरपूरता के अनुकूल ही हुआ है।"[1]

पर संस्कृत-वाङ्मय को इतना समृद्ध और उत्कृष्ट बनाने में भौगोलिक वातावरण से कहीं अधिक भाग भारतीय जाति के जीवन-सम्बन्धी आधारभूत आदर्शों और मान्यताओं का रहा है। भारत में सुदूर अतीत से ही यह विश्वास घर कर गया था कि जीवन केवल एक अनर्गल प्रलाप अथवा एक अर्थ-हीन स्वप्न न होकर आत्म-दर्शन का एक साधन है। यह ठीक है कि भारतीय यह मानते थे कि स्थायी और शुद्ध आनन्द जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति पाने पर या ब्रह्म में लीन हो जाने पर ही मिल सकता है और यह यह पार्थिव जीवन असार है, किन्तु साथ ही उनका यह विश्वास भी था कि जीव कर्म-बन्धन से ऐसा बँधा हुआ है कि सत्कर्म करने पर वह शनैः-शनैः मुक्ति की ओर अग्रसर होता है तथा अकर्म या दुष्कर्म करने पर वह भव-बन्धन में और फँसता जाता है। इस विचार से भारतीयों ने मानव-जीवन को चार आश्रमों में बाँटा और उसके सामने चार पुरुषार्थ रखे। प्रत्येक आश्रम के धर्म को निभाकर और चारों पदार्थों के लिए जीवित रहकर कोई भी व्यक्ति ब्रह्म में लीन होने का अधिकारी बन सकता है—ऐसा उनका विश्वास था। यदि कोई यह साधना और तप एक जीवन में करने में असमर्थ रहे तो भी उसको निराश होने का कोई कारण नहीं था क्योंकि वह बारम्बार जगत् में जन्म लेता ही रहेगा जब तक वह मुक्ति प्राप्त न कर ले। अतः भारतीयों के जीवन में यह विचार था ही नहीं कि जीवन कभी अन्तिम रूप से सर्वथा निष्फल और प्रयोजन-हीन हो सकता है। अन्ततोगत्वा प्रत्येक जीवन को ब्रह्म में लीन होना ही है। इसलिए किसी अस्थायी हार को वे सदा की हार न मानते थे। दूसरे शब्दों में मुक्ति के या

[1] कृष्णमाचारि : क्लासिकल संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १ पर उद्धृत।

आनन्द की प्राप्ति के सम्बन्ध में ये पूरे आशावादी थे। उनका यही आशावाद उनके साहित्य का मुख्य आधार है। सारे संस्कृत-वाङ्मय मे हमें कोई ट्रेजेडी या दुःखान्त काव्य या नाटक नहीं मिलता। यह बात नहीं कि काव्य के नायक को हर प्रकार की यातनाएँ न सहनी पड़ती हों या हर प्रकार की बाधाओं और विपत्तियों का सामना करना पड़ता हो। उसको यह सब भुगतना पड़ता है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसको ये सब यातनाएँ और विपत्तियाँ उसके सुख और सफलता का सोपान ही सिद्ध होती हैं। नल-दमयन्ती, हरिश्चन्द्र-शैव्या सत्यवान-सावित्री इत्यादि जितनी भी प्रसिद्ध कथाएँ हमारे साहित्य मे मिलती है उन सभी के नायक विपत्ति-सागर को पार करके अन्त में सफलता और सुख को प्राप्त कर लेते है। इसी विश्वास के कारण हमारा सारा साहित्य क्षणिक वेदनाओं को अमृत प्रदान करने वाला शब्द-चित्र ही न होकर व्यक्ति और जगत् के चिर-कल्याण की साधना भी है। कला के उद्देश्य के बारे में हमारे साहित्यिकों का यह विचार न था कि वह केवल लेखक या पाठक के मनोरंजन का ही साधन है, वरन् वे साथ ही यह भी मानते थे कि चारों पुरुषार्थों का भी वह साधन है। हमारे प्रधान महाकाव्यों के बारे में तो परम्परागत यह विश्वास सदा चला आया है कि उनके पठन-पाठन से मनुष्य की मुक्ति हो जाती है। साहित्य-मीमांसकों ने भी महाकाव्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि उससे चतुर्वर्ग फल, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भी साधना होती है। रह-रहकर यही ध्वनि भारतीय साहित्य के विभिन्न अंगों से ध्वनित होती है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में अन्ततोगत्वा धर्म और सत्य की विजय ही दिखाई गई है। इस आधारभूत आदर्श के कारण भी संस्कृत-वाङ्मय का महत्त्व कहीं अधिक हो जाता है। मानव का पशु से देवत्व पद प्राप्त करना ही कवि की साधना का ध्येय हो सकता है, क्योंकि उसी में उसका अपना आध्यात्मिक कल्याण है और उसी में मानव-जाति का कल्याण निहित है। संस्कृत-वाङ्मय हमारे कवियों और साहित्यिकों की इसी साधना का फल है।

संस्कृत-वाङ्मय की एक और विशेषता यह है कि उसमें सारे व्यक्त जगत् की एकता का चित्रण है। उसकी यह मान्यता है कि जड़ प्रकृति, चेतन पशु-पक्षी और ज्ञानवान् मानव इन सबके अन्तस्तल में एक ही सर्वव्यापी शक्ति विराज रही है। इसलिए नायक के सुख-दुःख में सारे जड़ और चेतन जगत् का हृदय भी सम्मिलित रहता है। इसी कारण संस्कृत-वाङ्मय में प्रकृति, पशुओं, पक्षियों का जितना सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण वर्णन है वैसा संसार के किसी अन्य साहित्य में नहीं पाया जाता—यूनानी साहित्य में भी नहीं। संस्कृत के लेखकों को शेक्सपीयर के जन्म से शताब्दियों पूर्व पाषाणों में पावन गीत और सरिताओं में शास्त्र-पाठ सुनाई देता रहा है। यहाँ के कवियों ने मेघों को, शुकों को दूत बनाकर नायक का संदेश लेकर

नायिका के पास अनेक तार भेजा है। संस्कृत-वाङ्मय में नायक या नायिका की जीवन-धारा के दिशा-निर्माण में परमेश्वर और देवगण, प्रकृति और उसकी प्रेरक शक्तियाँ, सभी भाग लेती है। व्यक्ति के झरोखे से श्रोता, दर्शक या पाठक को संस्कृत-वाङ्मय सारे विश्व का दिग्दर्शन करा देता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, विश्वात्मा से मानव-जीवन के इस तादात्म्य को इतनी स्पष्टता से केवल संस्कृत-वाङ्मय में ही निरूपित किया गया है।

अपनी इन विशिष्टताओं के कारण वह साहित्य अनेक ऐतिहासिक परिवर्तन होने पर आज भी अपना मस्तक ऊंचा किये हुए खड़ा है और संसार के महान् साहित्यों में सर्व प्रथम स्थान रखता है।

इस सम्बन्ध में एक उद्धरण और जो प्रोफ़ेसर मेक्समूलर ने अपनी 'ह्वाट इंडिया कैन टीच अस' नामक पुस्तक में लिखा है, देता हूँ। प्रोफेसर मैक्समूलर लिखता है : "यदि मैं सारी दुनिया में एक ऐसे देश की खोज करूँ जिसे प्रकृति ने इतना धन, शक्ति और रमणीयता प्रदान की है जितनी कि प्रकृति कर सकती है और जो कुछ सीमा तक पृथ्वी पर स्वर्ग है तो मैं कहूँगा कि वह देश भारत है। यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश में मानव-बुद्धि ने अपनी सर्वोत्तम योग्यताओं में से कुछ का पूरा विकास किया है, जिसने जीवन की गहनतम समस्याओं पर गहराई से विचार किया है और उनका ऐसा हल निकाला है जिन पर उन लोगों को भी ध्यान देना चाहिए जिन्होंने प्लैटो और काण्ट का अध्ययन किया है तो मैं कहूँगा कि वह भारत है। जब मैं यह सोचता हूँ कि वह कौन सा साहित्य है जिसमें हम लोगों को, जो केवल यूनानियों, रोम वालों और सेमिटिक जाति की एक शाखा अर्थात् यहूदियों के विचारों के आधार पर ही पले हैं, वह बात मिल सकती है जिससे हमारा आन्तरिक जीवन अधिक पूर्ण, अधिक विशद, अधिक व्यापक और सच ही अधिक मानवीय हो जायगा अर्थात् ऐसा हो जायगा जो केवल पार्थिव ही नहीं है वरन् अमृतमय है, तो मैं फिर कहूँगा कि वह भारत है।"

मैं ऊपर दिखा चुका हूँ कि संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन और अनुशीलन कितना आवश्यक, वांछनीय और महत्वपूर्ण है और इसलिए इसको हमारे सभी शिक्षालयों में केवल स्थान ही नहीं बल्कि काफ़ी प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए। साथ ही मैं यह भी कहना उतना आवश्यक समझता हूँ कि जो लोग केवल संस्कृत का ही अभ्यास करते हैं उनके लिए भी यह अनिवार्य होना चाहिए वे कि आधुनिक गति-विधि से परिचय प्राप्त करें। आज दुनिया किस तरह चल रही है, किधर जाती है, कितने चमत्कार आधुनिक अन्वेषणों के द्वारा विज्ञान ने दिखलाये हैं और उनका कितना गहरा प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ रहा है यह किसी से छिपा नहीं और यदि कोई

उनके प्रति उदासीनता दिखलाना भी चाहे और उनकी ओर से अपनी आँखें मूँद भी लेना चाहे तो वह नहीं कर सकता। इसलिए संस्कृत के विद्वानों को इन विषयों में अधिक ज्ञान नहीं तो कुछ इनके साथ परिचय और उनमें थोड़ा प्रवेश अवश्य होना चाहिए। यह हिन्दी-पुस्तकों द्वारा बहुत अच्छा हो सकता है। पर पुरानी रीति से शिक्षित पंडित हिन्दी को कुछ हेय दृष्टि से देखते आए हैं। उनके लिए संस्कृत में भी आधुनिक विषय-सम्बन्धी ग्रंथ बनने चाहिएँ। मुझे मालूम नहीं कि यह काम कहाँ तक हुआ है अथवा कोई विद्वान् इस काम में दिलचस्पी ले रहे हैं या नहीं। पर मुझे यह जानकर ख़ुशी हुई है कि कुछ विद्वानों ने आधुनिक विषयों को भी संस्कृत भाषा में प्रसारित और प्रचलित करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा का 'परमार्थ दर्शन' मैंने सुना है प्राचीन और नवीन दर्शन का बहुत ही सुन्दर और विशद ग्रंथ है। उसी प्रकार से महात्मा गांधी जी के सम्बन्ध में और उस विषय पर, जिसे लोग गांधीवाद कहते हैं, संस्कृत में तीन पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं: एक पंडित, राज स्वामी श्री भगवदाचार्य की 'भारतीय पारिजात,' दूसरी पंडिता क्षमा राव की 'उत्तर सत्याग्रह गीता' और तीसरी श्री श्रीनिवास-विरचित 'गान्धी-गीता'। मुझे ज्ञात हुआ है हमारे संविधान का संस्कृत-अनुवाद तैयार हो गया है और उसके प्रकाशित होने का प्रबन्ध हो रहा है। ये शुभ लक्षण हैं और इनसे मालूम होता है कि संस्कृत के ऐसे विद्वान् आज भी मौजूद हैं जो आधुनिक विषयों को उस प्राचीन देव-वाणी में विद्वानों के सामने उपस्थित कर सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन के साथ-साथ यह प्रयत्न भी चलता रहेगा जिसमें वह वाङ्मय, जिसकी प्रगति कई शताब्दियों से रुक गई है, फिर एक बार अपने स्रोत को जारी कर सके और कुछ शताब्दियों के बाद उस वाङ्मय के इतिहास-कार को यह भी कहने का सुअवसर मिले कि इस युग में भी संस्कृत-साहित्य किसी आधुनिक भाषा से विद्या के प्रचार में कम नहीं रहा।

मैं आशा करता हूँ कि यह संस्था दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करेगी और जिस अभिलाषा और महत्वाकांक्षा के साथ इसकी आज स्थापना की जा रही है वह उसको पूरा कर सकेगी।

९

भारतीय इतिहास का अध्ययन[1]

महान् राष्ट्रीय विपत्ति से तिमिराच्छन्न आकाश के नीचे हम आज एकत्रित हुए हैं। वर्तमान इतिहास के महान् निर्माताओं में से एक, अर्थात् सरदार वल्लभभाई पटेल को कराल काल ने हमसे छीन लिया है। उनके देहावसान से हमारे राजनैतिक जीवन में ऐसी शून्यता पैदा हो गई है जो भरी न जा सकेगी। किन्तु साथ ही वे त्याग, अदम्य इच्छा-शक्ति, कर्तव्य के प्रति अनथक लगन तथा संगठन और प्रशासन करने की अद्वितीय प्रतिभा के अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे लिए छोड़ गए हैं।

इस महासभा की ओर से इस सम्मेलन में उपस्थित होने के लिए जो निमन्त्रण मुझे दिया गया है उसे स्वीकार करने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। मैं विद्वत्ता का दावा नहीं करता, किन्तु मुझे इतिहास और विशेषतया अपने देश के इतिहास से—उस इतिहास से जिसने गत शताब्दियों में उत्थान और पतन देखे हैं और जो इतिहास-दर्शन की रचना के लिए पर्याप्त सामग्री दे सकता है—सच्ची लगन है। देश के जिस भाग में आपकी यह बैठक हो रही है वह तो केवल इसके लिए इसी हेतु ही उपयुक्त नहीं है कि वह भूगोल-शास्त्र की दृष्टि से देश का केन्द्र और हृदय है बल्कि इसलिए भी कि उसका न केवल सुदूर और निकट अतीत में ही बल्कि वर्तमान काल में भी इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जहाँ आज हम मिल रहे हैं उससे कुछ दूरी पर ही तो वर्धा जिले में वह संसार-प्रसिद्ध ग्राम सेवाग्राम है जो हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन के अन्तिम दौर के बारह-तेरह वर्षों तक—उस दौर में जिसकी समाप्ति हमें और देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति से ही हुई—उसकी पहिये की धुरी के समान था। अतः यदि मैं इस सम्मेलन का उद्घाटन करते समय इस बात पर, जो सम्भवतः बहुतों को तो बिलकुल स्वयं-विदित प्रतीत होगी बल देने की आज़ादी चाहूँ कि भारत को जितनी आवश्यकता अपने सुदूर किन्तु गौरवमय अतीत के सच्चे और सर्वांगीण इतिहास की आवश्यकता है उतनी ही उस अनोखे और अपूर्व आन्दोलन की भी है जिसने उसे संसार के चित्र में अपना

[1] अखिल भारतीय इतिहास-महासभा के नागपुर-अधिवेशन में २७ दिसम्बर १९५- को दिया गया उद्घाटन-भाषण।

स्थान फिर से दिला दिया है तो मैं किसी अनुचित बात का अपराधी न होऊँगा। यह अक्सर कहा जाता है कि हमारे पूर्वज हमारे लिए न तो देश का अधिकृत इतिहास और न वह सामग्री छोड़ गए हैं जिसके आधार पर उसकी रचना की जा सके। मैं समझता हूँ कि मेरे लिए यह आवश्यक नहीं कि मैं ऐतिहासिक सामग्री की उस अनन्त धारा की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँ जो पुरातत्व की खोजों और खुदाइयों के फलस्वरूप भारत में और आजकल समझे जाने वाले भारत से बाहर मध्य एशिया से लेकर स्वर्णद्वीप या उससे भी आगे मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के उत्तर भाग में पाये गए शिला-लेखों, मुद्राओं, पत्थर की मूर्तियों और मिट्टी की मूर्तियों तथा बरतनों-मनकों इत्यादि-इत्यादि के रूप में बही आ रही हैं। इस प्रकार की प्रत्यक्ष गवाही के अलावा हमारे पास विशाल वाङ्मय है जो हमारे अतीत पर प्रकाश डाल सकता है। न केवल काव्य और कला की ही पुस्तकों से बल्कि वैद्यक-शास्त्र, अंकगणित, व्याकरण, विधि, संगीत और विज्ञान की पुस्तकों से भी, यदि उनका ठीक-ठीक अध्ययन किया जाय तो, हमारे जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध में सामग्री मिल सकती है। ऐतिहासिक पुस्तकें भी काफी संख्या में लभ्य हैं और प्रतिदिन नई-नई ऐसी पुस्तकों का पता चल रहा है। जब भी कोई ऐतिहासिक पुस्तक मिलती है तो उसमें ऐसी अनेक पुस्तकों का जिक्र मिलता है जिनसे उसके लेखक ने सामग्री और सहायता ली थी किन्तु जो आजकल प्राप्य नहीं है। निकट भूत काल के बारे में तो आसाम की बुरंजी, बंगाल की कुलपंजिका, मिथला की वंशावली, राजस्थान के ख्यात और महाराष्ट्र के दफ्तर और इस प्रकार के अन्य बहुत से साहित्य की ओर संकेत किया जा सकता है। मुसलमान बादशाहों और उनके सामन्तों की आत्म-कथा से तथा उनके युद्धों और विजयों के इतिहास तथा उनके प्रशासन के वर्णन और ब्यौरे तथा पुरातन काल से लेकर वर्तमान काल तक यहाँ यात्रा करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त भी इस प्रकार के ज्ञान के खज़ाने हैं। यूरोपीय भाषाओं में और खास तौर से अँगरेज़ी में तो उस काल के इतिहास के लिए, जिसमें इस देश का यूरोप से राजनीतिक या व्यापारिक सम्बन्ध रहा है, ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। संस्कृत, पाली और प्राकृत के समान ही वर्तमान भारतीय भाषाएँ हमारे देश के इतिहास की धारा के हर ऐसे पहलू पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकती हैं जिसको अभी तक समुचित रूप से समझा या खोजा नहीं जा सका है। आप लोग तो इस सामग्री से कहीं अधिक परिचित हैं और उसका काफ़ी अच्छे ढंग और सफलता से प्रयोग करते रहे हैं।

इतिहासज्ञों को ही नहीं बल्कि साधारण लोगों को भी इस बात की प्रेरणा हुई है कि विगत घटनाओं, राजाओं और सम्राटों के युद्धों और विजयों, उनके

बहादुरी के कारनामों और दुःखद कुशासन तथा राजनैतिक उथल-पुथल का ही नहीं बल्कि इन बातों का भी सिलसिलेवार और सही वृत्तान्त देश के सामने पेश किया जाय कि हमारा जीवन कैसा था और किस प्रकार उसका स्वरूप बनता था और यह कि कितने महान् धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आन्दोलन इस देश में हुए जिनका प्रभाव न केवल भारतीयों पर ही बल्कि भारत की प्राकृतिक सीमाओं से बाहर करोड़ों लोगों पर भी हुआ और किस प्रकार कला और विज्ञान, उद्योग और व्यापार यहाँ पल्लवित और प्रस्फुटित हुए। इस ध्येय को पूरा करने के लिए प्रयास किये गए हैं और किये जा रहे हैं। कुछ वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास-परिषद् ने बीस जिल्दों में भारत के इतिहास के प्रकाशित करने की योजना बनाई थी किन्तु उसे वह कई कारणों से पूरा न कर सकी। आपकी महासभा ने भी ऐसे ही भार को अपने ऊपर लिया है और यह खुशी की बात है कि दोनों योजनाओं को अब मिला दिया गया है और अब यह आशा की जा सकती है कि उपयुक्त समय के अन्दर सम्पूर्ण इतिहास तैयार हो जायगा जो ऐसे सुयोग्य लेखकों द्वारा लिखा गया होगा, जिन्होंने आजकल प्राप्य सामग्री का सदुपयोग किया होगा और जिन्होंने हमारी सफलताओं और विफलताओं का सही वृत्तान्त ही हमारे सामने न रखा होगा बल्कि साथ ही यदि इतिहास उदाहरण द्वारा शिक्षा प्रदान करता है, तो हमारे भविष्य को आलोकित करने वाले उदाहरण भी उसमें होंगे।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि उत्तम इतिहास का स्वरूप क्या होना चाहिए। इतिहास के विषय में विभिन्न विचार रहे हैं। इतिहास की सबसे अधिक साधारण परिभाषा यही है यह भूल काल का वृत्तान्त है और उसका मुख्य ध्येय यह है कि समय की समाधि से उन बातों और व्यक्तियों को निकालें जो कभी थीं, किन्तु आज नहीं हैं। स्पष्ट है कि इस परिभाषा से इतिहास का स्वरूप बहुत ही अस्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। यदि इतिहास ऐसा शास्त्र है जो उदाहरणों द्वारा शिक्षा प्रदान करता है तो स्पष्ट है कि भूत काल का कोरा वृत्तान्त इस प्रकार शिक्षाप्रद नहीं हो सकता और वह महज़ इस वजह से कि आज का आदमी अपनी समस्याओं और स्थितियों को भूत काल की समस्याओं और स्थितियों से कहीं अधिक जटिल और विभिन्न स्वरूप वाला पायगा। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिभाषा से इतिहास का महत्त्व आदमी के लिए कहीं कम हो जाता है। इस सचाई को प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार पोलीबियस के ज़माने में भी पहचान लिया गया था। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में उसने लिखा था कि "यदि तुम इतिहास से कारण सिद्धान्त और प्रयोजन तथा ध्येय से कार्य-रीति के मेल की सब-बातों को निकाल दोगे तो जो कुछ बचेगा वह तो केवल ऐसा दृश्य होगा जो शिक्षाप्रद तो होगा ही नहीं और चाहे कुछ मुहूर्त के लिए वह भला लगे पर उसका कोई स्थायी महत्त्व

या मत्य भी न होगा।" कोरा घटना-वर्णन तो इतिहास नहीं कहा जा सकता और यदि वह केवल राजाओं और सामन्तों, उनकी बेवकूफ़ियों और व्यसनों, उनके युद्धों और विजयों की ही ऐसी कोरी गाथा हो जिसमें न तो साधारण मानवों के जीवन की झाँकी हो और न धर्म, भाषा, संस्कृति और कला के क्षेत्रों में होने वाले उन आन्दोलनों का ही ज़िक्र हो, जिन्होंने समय-समय पर मानव-जाति को हिला-डुला दिया है तो उसे इतिहास कहलाने का और भी कम हक़ होगा। इस बारे में पोली-बियस का मैं एक और उद्धरण दूँगा। प्यूनिक-युद्ध के सिलसिले में वह लिखता है कि "मैं इन सब बातों को लेखबद्ध इस आशा से कर रहा हूँ कि उनसे मेरे पाठकों को लाभ होगा। मानव-जाति के सुधार के लिए दो मार्ग हैं, एक तो अपनी मुसीबतों से सीखना और दूसरा रास्ता है दूसरों की मुसीबतों से सीखना। पहले में तो कोई ग़लती हो नहीं सकती और दूसरा कम हानिप्रद है। अतः किसी को पहले मार्ग को स्वेच्छा से नहीं अपनाना चाहिए, क्योंकि उसके अपनाने से तो सुधार में अत्यन्त यातना और ख़तरा बना रहता है। हमें तो दूसरे का ही सहारा लेना चाहिए, क्योंकि उस पर चलकर बिना नुक़सान उठाये यह बात हम बड़ी अच्छी तरह से जान सकते हैं कि क्या करना ठीक होगा। यही बात है कि जिसमें हम इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सच्चे इतिहास से मिलने वाला ज्ञान प्राप्त करना व्यावहारिक जीवन के लिए सब से अच्छी तैयारी है, क्योंकि इतिहास और इतिहास ही में यह शक्ति है कि बिना वास्तविक संकट में डाले वह हमारी बुद्धि को पर्याप्त परिपक्व कर दे और हमें तथ्य को पहचानने के योग्य बना दे चाहे फिर हमारे जीवन में कैसी ही विषम स्थिति क्यों न हो।" इतिहास के प्रति रोम वालों का दृष्टिकोण ग्रीसवासियों से भिन्न न था। इतिहास-लेखन-कला के सिद्धान्तों को सिसरो ने यों व्यक्त किया है। वह लिखता है कि "इतिहास-लेखन का प्रथम नियम यह है कि इतिहास को किसी ग़लत बात के कहने की धृष्टता नहीं करनी चाहिए और दूसरा नियम है कि सच बात कहने की उसे हिम्मत होनी चाहिए। साथ ही उसके बारे में पक्षपात या वैमनस्य का संदेह भी न होना चाहिए। उसकी इमारत तो घटना-चक्र और लेखन-शैली पर निर्भर होती है। घटना-चक्र के वर्णन के लिए समय-क्रम और देश-परिचय की ओर ध्यान देना पड़ता है तथा ऐसी महान बातों में जो स्मरणीय हैं हमें सर्व प्रथम उद्देश्यों, उनके पश्चात् कार्यों और अन्त में परिणामों पर ध्यान देना पड़ता है। इतिहास से यह भी प्रकट होना चाहिए कि इतिहासज्ञ किस उद्देश्य को ठीक मानता है। कार्यों के सम्बन्ध में महज़ इतना ही काफ़ी नहीं कि यह बता दिया जाय कि क्या किया या कहा गया बल्कि इसकी भी ज़रूरत है कि वह किस रीति से किया गया और जहाँ परिणाम का वर्णन भी किया गया है वहाँ उन सब कारणों का भी

वर्णन होना चाहिए जिनमे वह परिणाम हुआ, चाहे फिर उनका सम्बन्ध किसी आकस्मिक घटना से हो चाहे अक्लमन्दी से और चाहे दुःसाहस से। केवल चरित्र-नायकों के कारनामो का ही वर्णन न होना चाहिए, बल्कि उनमे से ऐसों के जीवन और शील का भी वर्णन होना चाहिए जो यश अथवा गौरव के कारण लोगों की आँखों में गड़ गए है।" रोम का प्रसिद्ध इतिहासकार लिवी यह मानता था कि मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं मे भाग्य का हाथ होता है। रोम के उत्थान का जिक्र करते हुए वह लिखता है कि "मेरी समझ मे इतने महान् नगर के बसने और देवताओं की-सी शक्ति वाले साम्राज्य की स्थापना में नियति का हाथ था।" उसका मत था कि "आधिदैविक शक्ति और विशेषतया विकट अवस्थाओं के संभालने में देवताओं का भाग तो चमत्कार अथवा सगुन द्वारा स्पष्टतया प्रकट हो ही जाता है। और जब देवता स्पष्टतया कार्य-क्षेत्र में दिखाई नही देते तो पर्दे के पीछे से तो अवश्य डोरी खींचते रहते है।" जिन विषयों की ओर लिवी ने अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया, वे थे "समाज का जीवन और शील, वे व्यक्ति और गुण घरेलू नीति और वैदेशिक युद्ध के जरिये साम्राज्य के विस्तार में प्रभावशाली सिद्ध हुए।" भूत काल के बारे में वह कहता है कि "उसमें आपको ऐतिहासिक सत्य के निर्मल प्रकाश में हर प्रकार के उदाहरण मिलेंगे उनमें से आप ऐसे छाँट सकते है जिनका आप अपने लिए और अपने देश के लिए अनुसरण करना चाहते हैं।" अतः स्पष्ट है कि इतिहास के बारे में लोगों का दृष्टिकोण रहा है कि वह घटनाओं की कोरी नीरस कहानी न होकर ऐसा शास्त्र है जो हमें मानवीय समाजों और संस्थाओं के जन्म और विकास का पूरा-पूरा ज्ञान कराता है।

भाग्यवाद के मुकाबले में हमें यह विचार भी मिलता है कि जीवन परिस्थितियों के साँचे में या रक्त-जात गुणों के साँचे में ही ढलता है। ये सिद्धान्त मानव-जीवन अथवा अनुभूति के किसी एक या दूसरे पहलू को ही महत्त्व देते है और यह मानते हैं कि जो कुछ भी हुआ है वह सब केवल उसी पहलू के कारण हुआ है। इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य परिस्थितियों से अर्थात् जिन भौतिक वस्तुओं से उसका सम्पर्क होता है उनके चलन से और उनकी क्रिया और पारस्परिक प्रतिक्रिया से, तथा प्राणि-मात्र के जिन नियमों के कारण उसका अपना शरीर अपने पूर्वजों के ऐसे ही शरीर का यदि पूर्णतः नहीं तो अंशतः फल-मात्र होता है उन नियमों से भी प्रभावित होता है। किन्तु इस प्रकार का नियतिवाद—चाहे फिर नियन्ता भाग्य अथवा रक्त में से कोई एक क्यों न माना जाय—मानव-जगत् के बारे में यह विचार पैदा कर देता है कि वह इनमें से एक या कुछ के ही व्यापार का परिणाम है और इस प्रकार इस बात को नहीं मानता कि उस क्षेत्र में मानव-आत्मा का भी कोई हाथ

है। किन्तु यह तो सचाई की ओर से सरासर आँख बन्द कर लेना है। इतिहास तो सही अर्थ में तभी इतिहास होगा जब वह इन सब और दूसरी शक्तियों और बातों का, जो मानवों पर या उनके द्वारा सक्रिय रहती हैं, संश्लेषात्मक दृष्टि से विचार करे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि इतिहास तो पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र से मिलकर बनता है। इस प्रकार उसने सांस्कृतिक और भौतिक तत्वों को इतिहास का आवश्यक अंग माना है। यह दृष्टिकोण केवल सर्वांगीण ही नहीं बल्कि अत्यन्त मौलिक भी है, क्योंकि वह इतिहास की ऐसी परिभाषा करता है जो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हाल में प्रतिपादित अन्तिम सिद्धान्तों और विचारों के बराबर ही महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य का विशेष महत्व तो यह है कि उसने उन दो विचार-धाराओं में मेल कराने की बात सोची जो बाद में इतिहास के ऐसे दो विरोधी दृष्टिकोण और दार्शनिक सिद्धान्तों में परिणित हो गई जो लगभग पिछली एक शताब्दी से आपस में झगड़ रहे हैं और अपना एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं, और जिनमें एक तो इतिहास की आदर्शवादी या अध्यात्मवादी धारा है जिसके विभिन्न पहलुओं का सर्वोत्तम प्रतिपादक हैगैल है और मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित भौतिकवादी धारा है। किसी इतिहास और विशेषतया हमारे देश के इतिहास के लिखने में हमें भौतिक तत्वों के मानव-जीवन पर प्रभाव को, जिस पर अब तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है, कम-से-कम उतने ही महत्व का मानना चाहिए जितना कि मानव व्यक्तित्व और उसके आध्यात्मिक आदर्शों को माना जाता है। इतिहास के लेखन की प्रगति के लिए तथा इतिहास में क्रियाशील नियमों के सही अर्थ जानने के लिए इन दोनों तत्वों का संश्लेषण आवश्यक है।

वर्तमान पीढ़ी के भारतीय इतिहासज्ञों के ऊपर विशेष उत्तरदायित्व है और उनके सामने एक सुनहरी मौक़ा है। उन्होंने स्वयं ऐसी महान् घटनाएँ देखी हैं जैसी कि अन्य युग के इतिहासज्ञों को कभी भी देखने को न मिली थीं। हमारे पास संहारक अस्त्रों द्वारा प्राप्त की गई विजयों और साम्राज्यों का वर्णन मौजूद है। अत्यन्त प्राचीन युगों से ही मानव इन शस्त्रों को बेहतर बनाने का प्रयत्न करता रहा है और आज हम ऐसी मंज़िल पर पहुँच गए हैं जब कि इस बात का पूरा भय है कि पलक मारने भर में कहीं युद्ध असंख्य प्राणियों और शताब्दियों के कौशल और श्रम द्वारा निर्मित अपार वस्तुओं को विनष्ट न कर दे। न तो हमारे पास ऐतिहासिक सामग्री की कमी है और न ऐसे इतिहासज्ञों की, जिन्होंने युद्धों और विजयों के इतिहास के लिखने में इस प्रकार की सामग्री का सफलता से प्रयोग किया है। यूरोप के कुछ देशों में दोनों पिछले युद्धों के अन्तर-काल में मैं थोड़े दिन रहा था। वहाँ एक बात की ओर मेरा ध्यान विशेषतया आकृष्ट हुआ और उसकी छाप आज भी मेरी स्मृति पर है। जहाँ कहीं भी मैं उस समय गया वहीं मुझे योद्धाओं और विजेताओं के, युद्धों के और

उनमें लड़ने वालों के स्मारक दिखाई दिये। किसी भी कारणवश क्यों न हो, पर हमारे देश में ऐसे स्मारक या तो हैं ही नहीं और अगर हैं भी तो यूरोपीय देशों से हमारे सम्बन्ध के युग अतिरिक्त और काल के बहुत कम हैं। हिन्दू और बौद्धकालीन जो भी महान इमारतें अवशिष्ट हैं लगभग उन सबका स्वरूप, प्रयोजन, और रचना धार्मिक है। इसी प्रकार मुसलमान काल की जो महान् इमारतें हैं वे भी लगभग सभी धार्मिक या अर्द्ध-धार्मिक हैं। हाँ उस समय के किले यहाँ-वहाँ अवश्य हैं, जो संघर्ष और उपद्रव के युग की घटनाओं के प्रतीक हैं। किन्तु यहाँ योद्धाओं और शूरमाओं की वैसी पूजा नहीं है जैसी हम यूरोप में देखते हैं। अतः हमारे इतिहास की दृष्टि स्वभावतः इस महत्त्वपूर्ण बात पर जानी चाहिए और इससे किसी प्रकार का आश्चर्य न होना चाहिए कि इस देश ने पिछले लगभग तीस वर्षों में स्वातंत्र्य-युद्ध के लड़ने के एक नये तरीक़े का विकास देखा है वह था अहिंसा का प्रोग्राम और उसका कार्यान्वित किया जाना। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि किसी इतिहासज्ञ ने अपनी कृतियों में इस नये तरीक़े का ज़िक्र किया है या नहीं। मेरा ख़याल है कि वह इतिहास तो अभी लिखा जाना है। यह बात चाहे अटपटी लगे, पर है सत्य कि इस अध्याय के बारे में—जिसे मैं अपने देश के ही नहीं वरन् सारे संसार के इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय समझता हूँ—जो मूल सामग्री है और जिसके आधार पर इसे लिखा जा सकता है उसे न तो वैसे इकट्ठा किया जा रहा है और न उसका वैसा परिरक्षण किया जा रहा है जैसा कि किया जाना चाहिए, और वह शनैः-शनैः किन्तु बराबर विनष्ट और विलीन हो रही है। जिन लोगों ने इस संघर्ष या आन्दोलन में भाग लिया था उनकी न तो वैसी शिक्षा-दीक्षा थी और न उन्हें इतना समय और सुविधा थी कि वे जो कुछ दिन-प्रतिदिन हो रहा था उसका वृत्तान्त लिखते रहते। और इसका तो सवाल ही क्या हो सकता था कि वे उन आन्तरिक विचारों और प्रयोजनों का ब्यौरा लिखते जिनसे उनका अपना चलन और घटना-क्रम प्रभावित हो रहा था। जो कुछ भी सामग्री लभ्य है वह इतने विस्तृत क्षेत्र में और इतने विभिन्न रूपों और भाषाओं में बिखरी हुई है कि उसमें से मतलब की बात शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति ही पर्याप्त परिश्रम के पश्चात् निकाल पायेंगे। अभी कुछ दिन हुए मैं शिमला गया था। वहाँ मैंने वह प्रशंसनीय काम देखा जो आपके मन्त्री डॉक्टर विश्वेश्वरप्रसाद की मातहती में उस इतिहास की रचना के सम्बन्ध में किया जा रहा है जिसमें इस बात का पूर्ण वर्णन होगा कि पिछले युद्ध में भारत ने क्या भाग लिया। जो सामग्री प्राप्त की गई है उसका अध्ययन और परख कई सुयोग्य विद्वान् कर रहे हैं और रुचिकर और उपदेश-प्रद रूप में क्रम-बद्ध इतिहास लिखने के कार्य में पर्याप्त प्रगति हो चुकी है।

सरकार इस काम पर पहले काफी खर्च कर चुकी है और कर रही है। हम सब जानते हैं कि वर्तमान युग की युद्धों में कोई बात भाग्य पर नहीं छोड़ी जाती और सर्वसाधारण जब तक लोग युद्ध में लड़ते होते हैं कुछ अन्य युद्ध के घटना-क्रम का सही-सही वृत्तान्त न केवल शब्दों में बल्कि चित्रों में भी उतारने में व्यस्त रहते हैं और इस बात का खतरा नहीं होता कि वह सामग्री सर्वदा के लिए खो जायगी। आज ही नहीं बल्कि पर्याप्त पुरातन काल से सरकार और विशेषतया सैनिक अधिकारीगण युद्ध के इतिहास को अधिक महत्त्व देते रहे हैं और खास तौर से इसलिए कि युद्ध-कला और रण-नीति के सम्बन्ध में उससे सैनिकों को शिक्षा मिले। इसमें कोई शंका की बात नहीं है कि ऐसे इतिहासों से उन लोगों को पर्याप्त लाभ हुआ है। पर क्या सहानुभूति और विवेकपूर्ण ढंग से लिखे गए हमारे अहिंसात्मक आन्दोलन के ऐसे इतिहास का, जिसमें कि दिन प्रतिदिन हुए घटना-क्रम का पूर्ण वृत्तान्त हो, हमारे लिए और भविष्य में अन्य लोगों के लिए, उसके समान ही महत्त्व न होगा। वह एक प्रयोग था और महात्मा गान्धी भी इसे यही समझते थे। किन्तु यह सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। कौन कह सकता है कि किसी दिन दुनिया उस सिद्धान्त को स्वीकार न कर लेगी और वही रण-नीति नहीं अपना लेगी जिसे महात्मा गांधी ने हमें सिखाया था और स्वयं उसको अमल में लाये थे और जिसके द्वारा हम अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करने में सफल हुए। जिस व्यक्ति को उस सिद्धान्त के फलदायी होने का विश्वास है और जो यह भी मानता है कि वह शक्तिशाली और सार्वभौमिक है उसकी समझ में तो देश के लिए ही नहीं वरन् सारे जगत् के लिए भी जो विज्ञान की महान् प्रगति के बावजूद इन विफलता और असफलता के दिनों में कुछ ऐसे ही पथ की खोज में है, ऐसे इतिहास का अत्यन्त महत्त्व होगा। क्या मैं इतिहासज्ञों की इस महासभा से यह आशा करूँ कि वह इस कार्य को जो सुदूर भूत या हाल के दूसरे महायुद्ध के इतिहास से भी यदि अधिक महत्त्व का नहीं तो बराबर महत्त्व का तो अवश्य है, अपने हाथ में सँभाल लेगी? जिन्होंने इस संघर्ष में भाग लिया उन्होंने तो अपना काम कर दिया। उनसे बहुत से जो अपनी निजी जानकारी से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बातें बता सकते थे, किन्तु जिन्होंने अपनी जानकारी को लिख नहीं छोड़ा था, एक-एक कर के परलोक सिधार रहे हैं और थोड़े ही समय के पश्चात् उस इतिहासज्ञ को, जिसने घटनाओं को केवल देखा भर है और उससे भी ज्यादा उस इतिहासज्ञ को, जो बाद में होगा अधिकाधिक उन्हीं वृत्तान्तों पर निर्भर करना पड़ेगा जो ऐसे विभिन्न रूपों में जैसे समाचार-पत्रों, पुस्तिकाओं, रिपोर्टों में या इतिहास के अन्य रूपों में

प्रकाशित हुए थे। शोक की बात है कि जीवित सामग्री तो शीघ्रता से विलीन होती जा रही है और बहुत जल्द ही पूर्णतया खत्म हो जायगी। अतः यदि किसी को इस दिशा में कोई दिलचस्पी हो तो उसे तुरन्त इस बारे में चौकन्ना और सावधान हो जाना चाहिए और अविलम्ब इस काम को हाथ में ले लेना चाहिए ताकि भावी पीढ़ियों को इस शिकायत का मौक़ा न हो कि यद्यपि लोगों ने महान् काम किये थे किन्तु इतिहासज्ञों ने उनका वृत्तान्त नहीं लिखा और इसलिए उनसे मिलने वाले उपदेश सर्वदा के लिए अलभ्य हो गए। मुझे आशा है कि यहाँ कोई यह प्रत्युत्तर न देगा कि इस प्रकार की जानकारी को इकट्ठा करने और उसका वृत्तान्त लिखाने का काम केवल इतिहासज्ञों का ही न होकर सरकार का भी है, क्योंकि वह तो उन्हीं लोगों की है जिन्होंने उस संघर्ष में भाग लिया था और जिन्होंने ऐसा करके इतिहास की धारा बदल दी थी। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि यदि सरकार और कामों में कार्य-रत रहने के कारण ऐसा करने में असमर्थ हो और अपना कर्तव्य-पालन करने में असफल हो तो भी उसकी यह असफलता और लोगों को भी इस दिशा में निष्क्रिय रहने के लिए कोई कारण प्रदान नहीं करती। मेरा विश्वास है कि सरकार के तत्त्वावधान में इस दिशा में कुछ कार्य हो भी रहा है और मैं तो यही आशा प्रकट कर सकता हूँ कि वह काम उन महान् घटनाओं के अनुरूप ही महान् होगा क्योंकि अहिंसा की विजय तो युद्ध की विजयों से भी कहीं अधिक गौरवपूर्ण होती है।

द्वितीय खण्ड

शिक्षा

१. शिक्षा का सांस्कृतिक आधार
२. विश्वविद्यालय की शिक्षा : स्वरूप और क्षेत्र
३. शिक्षा और आज की समस्याएँ
४. राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली

१

शिक्षा का सांस्कृतिक आधार[1]

सरस्वती के इस प्रसिद्ध मंदिर में कई वर्ष की साधना और तपस्या के उपरान्त आज आप स्नातक भाइयों ने उसका वरदान पाया है—वह वरदान जो आपके जीवन में आपके लिए अमोघ कवच होगा, और जो होगा आपकी जीवन-यात्रा का अक्षय संबल। अपनी इस ममतामयी और उदार माता के पवित्र मंदिर से संभवतः शीघ्र ही बिदा लेकर आप जीवन के व्यापक महा सागर के यात्री बनेंगे, और आपके हाथ में होगी अपनी जीवन-नौका की पतवार। इस समय जब आप अपने भाग्य और भविष्य के द्वार पर खड़े हैं, मैं आपसे कुछ शब्द इस विश्वास से कहना चाहता हूँ कि संभवतः उनसे इस विशाल जीवन-महासागर में अपनी दिशा निर्धारण करने में आप को सहायता मिले और आप उस पथ को पहचान सकें जो मानव को राम-राज्य की ओर ले जाता है।

मैं यह जानता हूँ कि आप युवक हैं, भावुक हैं और उत्साहपूर्ण हैं। किन्तु आपने अपने भावी जीवन का छाया-चित्र कितना ही सुनहरा और सुन्दर क्यों न बनाया हो, आपने अपनी यात्रा के बारे में कैसी ही सुखद कल्पना क्यों न की हो, आपको शीघ्र ही आधुनिक मानव-जीवन की समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। जब तक उन समस्याओं के रूप को आप यथोचित न समझेंगे और जब तक आप उनको सम्यक्रूपेण और सफलतापूर्वक न सुलझायेंगे, आप अपनी कल्पनाओं और स्वप्नों को, आकांक्षाओं को वास्तविकता का रूप देने में सफल न होंगे। अतः अपनी यात्रा आरम्भ करने से पहले आपके लिए यह उचित है कि आप जान लें कि समस्याएँ क्या हैं, और वे किस मार्ग पर चलने से हल की जा सकती हैं।

मेरा विचार है कि आधुनिक जगत् की ही नहीं, मानव के सामने चिरकाल से सबसे बड़ी समस्या—वह समस्या जिसके सफल हल पर मानव का भविष्य और भाग्य निर्भर करता है—मानव-जीवन में सुख और शान्ति की स्थापना है, और रही है। भूत काल में जातियों के संघर्ष से व्यक्तियों और समुदायों को पर्याप्त कष्ट और पीड़ा भोगनी पड़ती थी, पर जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इतिहास में आज से पहले कभी यह स्थिति नहीं हुई थी कि जातीय संघर्ष से मनुष्य-जाति के मूलनाश का ही भय पैदा हो जाय। किन्तु आज यह बात केवल भय ही नहीं, वरन् एक ठोस सत्य हो गई

[1] लखनऊ-विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षान्त-भाषण, २० दिसम्बर १९४६।

है। अणु-बम के आविष्कार से जगत् में यह स्थिति पैदा हो गई है कि कोई भी देश अथवा नगर या ग्राम किसी समय भी सर्वथा नेस्त-नाबूद किया जा सकता है, चाहे फिर वह युद्ध-क्षेत्र से कितनी ही दूरी पर क्यों न हो। इस बम के घातक प्रभाव के बारे में तो आप लोग जानते ही हैं। अतः प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या उपाय किया जाय जिससे विज्ञान की यह देन नागिन की तरह मानव के गले से लिपटकर उसका जीवन-नाश न कर सके। इस बारे में इस विचार से उदासीन होना कि आज-कल तो युद्ध नहीं हो रहा है, बुद्धिमानी का द्योतक न होगा। यह ठीक है कि आज मानव मानव का संहार उस व्यापक मात्रा और अमानुषिक ढंग से नहीं कर रहा जिसमें कि वह कुछ वर्ष पूर्व कर रहा था। किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आज भी भू-मण्डल के कई देशों में गृह अथवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की ज्वाला प्रज्वलित है और उसमें लाखों ही नर-नारियों की आहुति चढ़ रही है। किन्तु जिन देशों में युद्ध नहीं भी हो रहा, उनमें भी एक दूसरे के प्रति कोई सद्भावना नहीं है। अमेरिका और उसके साथी एक ओर, और रूस और उसके साथी दूसरी ओर युद्ध की तैयारी में लगे हुए हैं या कम-से-कम युद्ध के भय से आक्रान्त हैं। इन दोनों गुटों में इस समय शक्ति की दौड़ लगी हुई है, और हो सकता है कि यह अन्त में युद्ध का रूप धारण कर ले। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक मानव का धर्म है कि वह इस भयानक स्थिति से व्यक्तियों और जातियों को, राष्ट्रों और राज्यों को निकालने की तदबीर सोचे। इस बारे में मेरा यह दृढ़ विचार है कि आज के जगत् में युद्ध की आशंका इस कारण से बहुत अधिक है कि संसार की बहुत सी जातियों में जीवन का जो आदर्श है वह दूषित हो गया है। सुख और शान्ति के सच्चे रूप को हम भूल गए हैं।

हमें यह मान लेना चाहिए कि वैयक्तिक भोग ही मानव-जीवन का चरम ध्येय और मानव-संस्कृति के विकास का आधार नहीं है। मैं जानता हूँ कि भोग का आदर्श केवल आधुनिक नहीं है, वह तो सर्वदा ही न्यूनाधिक मात्रा में संसार की सब जातियों में विद्यमान रहा है। किन्तु प्रेय और श्रेय दोनों चिरकाल से मानव को लुभाते और आकृष्ट करते रहते हैं। किन्तु प्रेय को मानव-धर्म की आधार-शिला बनाने का श्रेय तो अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के यूरोपीय पण्डितों को ही दिया जा सकता है। कुछ भी क्यों न हो, इस बारे में इतना तो अवश्य कहा ही जा सकता है कि आज के जगत् में भोग-लिप्सा का आदर्श मनुष्य के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है। जब तक मनुष्य के हाथ के यंत्र-तंत्र कम शक्ति वाले थे उसकी भोग-लिप्सा दूसरे मनुष्यों के लिए अति भयावह और विनाशकारी न हो पाती थी। किन्तु आज तो मनुष्य के हथियारों की, यंत्रों की इतनी शक्ति है और वह भी घातक शक्ति कि किसी एक व्यक्ति या जाति की भोग-लिप्सा का प्रभाव सारे संसार के नर-नारियों पर

ही पड़ता है, अतः यह आवश्यक हो गया है कि मानव सोचे, और शांत हृदय में सोचे कि क्या भोग-लिप्सा उसके जीवन का सच्चा आदर्श हो सकती है और उसको राम-राज्य में पहुँचा सकती है ? मैं समझता हूँ कि भोग-लिप्सा मानव-जीवन का उचित आदर्श न कभी थी, और न कभी हो सकती है। सच्चा सुख, सच्चा आनन्द, सच्ची शांति बाह्य पदार्थों पर, उनके योग-क्षेम पर, उनके संग्रह और भोग पर निर्भर नहीं है, बल्कि वह आंतरिक संतोष में ही निहित है। जब तक मनुष्य यह मानता रहेगा कि बाह्य पदार्थों के संग्रह और उपभोग में सच्चा आनन्द है, उसकी सारी शक्ति उन पदार्थों के उपार्जन में लगती रहेगी और इस उपार्जन में वह दूसरों के उसी प्रकार के समान अधिकार को न मानेगा और न बर्ताव में समानता को स्वीकार करेगा। इस तरह उपभोग की सामग्री का उपार्जन और संग्रह मनुष्य-मनुष्य के बीच, जाति-जाति और देश-देश, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच कलह और संघर्ष का कारण बन जाते हैं। आज राष्ट्रों में जितनी लड़ाइयाँ होती हैं अथवा होने वाली हैं, उनका मुख्य और एक-मात्र कारण यही संघर्ष है। मानव-समाज यदि पशु-समाज से ऊपर उठना चाहता है तो उसे देश और राष्ट्र-भावना के ऊपर उठकर समस्त मानव-जाति से आत्मसात् करना होगा। भोग के बदले त्याग को अपनाना होगा, बाह्य पदार्थों में आनन्द ढूँढ़ने के बदले आत्म-तुष्टि में उसे पाना होगा। अपने से ऊपर उठना उन लोगों को हानिकारक प्रतीत हो सकता है जो समझते हैं कि मानव का आदि और अन्त केवल भौतिक शरीर में ही है, और मानव-जीवन रासायनिक क्रिया से अन्यथा कुछ नहीं है। किन्तु जो समझते हैं कि प्रत्येक मानव में सृष्टि के आदि से लेकर आज तक के सब जीवों की जीवन-धारा संचार कर रही है, जो समझते हैं कि मानव के हृदय में सारे विश्व की विभूतियाँ भरी पड़ी हैं, जो समझते हैं कि मानव का भौतिक शरीर तो विश्वात्मा का केवल एक मूर्तिमान् केन्द्र-मात्र है, उन्हें यही लगता है कि अपने अहं के संकुचित दायरे में ही बन्द रहने वाला, अपनी ही इन्द्रियों की तृप्ति को अपना सब-कुछ मानने वाला मानव अपने को भूला हुआ है, अपने गौरव से अपरिचित है, और सचमुच ही मृत्यु और अंधकार-जगत् का वासी है। मानव-इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ उस इतिहास का, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास से है—पुकार-पुकारकर कह रहा है कि त्याग-भावना, सेवा-भावना ही जीवन की अडिग आधार-शिलाएँ हैं और हो सकती हैं। जिन वैज्ञानिकों ने विज्ञान के अद्भुत सत्यों का पता चलाया और मानव-जीवन को शक्ति और धन-सम्पन्न कर दिया, उन्होंने अपने को भुलाकर ही उन सचाइयों के पाने में सफलता पाई थी। अपने को भुलाने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति गेरुआ वस्त्र रँगाकर जंगल में जा बैठे और आँख मूँदकर ध्यानावस्थित हो जाय। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि मानव अपने

जीवन की क्रियाओं को करते समय प्रत्येक क्षण यह ध्यान रखे कि वे क्रियाएँ उसी के स्वार्थ-साधन के लिए नहीं है, वरन् वे सारे जगत् के, सारी मानव-जाति के लाभ के लिए, हित के लिए है—दूसरे शब्दों मे उसका हर समय मानव का पुजारी बना रहना, प्रत्येक क्षण मानव-सभ्यता और मानव-जाति के सुख के लिए अपने जीवन की आहुति चढाना ही सच्चा सुख और आनन्द है और यह सब करना है प्रेम से, स्वेच्छा से, और श्रद्धा से।

यहाँ पर मै यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि इस प्रकार के आदर्श और सर्वभक्षी राज्य के आदर्श मे आकाश-पाताल का अन्तर है। फासिस्टों का विचार था कि व्यक्ति आँख मूँदकर सचाई और अध्यात्म का विचार छोड़कर केवल अपने राष्ट्र का ही पुजारी बन जाय। उनको मानवता से कोई सरोकार न था। उनकी लालसा तो केवल अपने राष्ट्र की भौतिक या सामरिक शक्ति बढ़ानी ही थी। अतः उनकी त्याग की पुकार के पीछे स्वार्थ-भावना थी, न कि मानव की सच्ची सेवा की भावना। इसी कारण से तो वे इतने असहिष्णु और इतने हिंसा-प्रिय होते थे। किन्तु सच्चे त्याग की भावना का अर्थ तो सचमुच मे यही है कि प्रत्येक मानव अपने को पहचाने और यह जाने कि वह अपने भौतिक शरीर का ही क़ैदी न होकर सारे विश्व में ओत-प्रोत है। जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श उसने पहचाना वहीं उसके हृदय से द्रोह और द्वेष की भावना का अन्त हो जायगा।

इसी आदर्श को हमारे आचार्यो ने हमारे सामने भूत काल मे रखा था और इसी आदर्श को हमारे पूज्य नेता और पथ-प्रदर्शक महात्मा गांधी ने हमारे सामने आधुनिक जगत् मे रखा। यदि भारत को आज संसार के विचारकों और जन-समूहों मे कोई आदर प्राप्त है, तो वह इसी आदर के कारण। यदि संसार के लोग यह समझते हैं कि भारत संसार के जीवन मे महत्त्वपूर्ण भाग ले सकता है, तो वह भी इसी विश्वास के कारण कि भारत महात्माजी के चरण-चिह्नों पर चलने का आज भी प्रयास कर रहा है और करता रहेगा। यही आदर्श है जिसको गांधी जी ने अहिंसा और सत्य का नाम दिया था, और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इसी त्याग के आदर्श पर चलकर इसी मानवता के पुजारी बनने पर, जीवन को सेवा से पुनीत करने के आदर्श पर चलाकर ही मानव-जीवन में सच्ची और चिरस्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में भी बहुत से लोग वर्तमान सभ्यता के सुलभ भौतिक साधनों से चकित होकर यह कहने लगे हैं कि जीवन का उद्देश्य शक्ति-संचय है, भोग है, न कि निरन्तर सेवा। हम आज व्यक्तिगत धन अथवा सत्ता के संग्रह मे पागलों की तरह लगना चाहते हैं। किन्तु धन और शक्ति की यह पूजा न तो हमारे लिए, और न हमारे देश अथवा मानव-जाति के लिए सुखकर होगी। इस चकाचौंध से

निकलकर हमे सीधा रास्ता पकड़ना होगा। इसका अर्थ यह नही है कि हम आधुनिक विज्ञान और उसके द्वारा प्रस्तुत साधनो से लाभ न उठायें, शक्ति और साधन पर अधिकार पाना उचित और श्रेयस्कर है। पर हम शक्ति और साधन पर अधिकार पाने के बदले उनके शिकार बन जाते है। राम-रावण दोनो ने तप किया था और तपस्या द्वारा ही शक्ति प्राप्त की थी, पर सयम ने राम को शक्ति पर प्रभुत्व दिया था और भोग ने रावण को उसका गुलाम बना दिया था। आज विज्ञान-प्रदत्त शक्ति को राम के संयम की अपेक्षा है। उसी के अभाव में विज्ञान मानव के लिए अभिशाप बन रहा है। इस सयम को यदि मानव फिर एक बार अपना ले, तो विज्ञान अभिशाप के बदले वरदान हो सकता है। जिस हद तक मानव ने उस संयम को अपनाया है उस हद तक वह आज भी वरदान का रूप धारण कर सका है।

हम चाहते हैं कि भारत समृद्धि-शील और सुख-सम्पन्न हो। पर क्या यह सब तभी हो सकता है जब भारत अपने प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास को भुलाकर संयम-पथ को छोड़कर, भोग लिप्सा का पुजारी बन जाय? मे समझता हूँ कि भारत का भविष्य उस पथ पर चलने से भव्य और सुन्दर नहीं हो सकता।

दो वर्ष हुए जब हमारे देश से अंगरेज़ विदा हुए और हमारा भाग्य हमारे हाथ मे आया। इन दो वर्षों मे हमने भारत को नव रूप और नव जीवन प्रदान करने के लिए प्रयास किया है। अभी कुछ दिन हुए जब हमने भविष्य-समाज और राज्य के उस चित्र को पूरा किया जिसे हम भारत का संविधान कहते है। म यह समझता हूँ कि उस संविधान की आधारभूत शिला भी यही आदर्श है जिसका जिक्र मैने अभी-अभी आपके सामने किया है। उसकी प्रस्तावना में जिन चार मूलभूत तथ्यो का वर्णन किया गया है वे है स्वतन्त्रता, समता, न्याय और बंधुता, और जिस राज्य की स्थापना की घोषणा की गई है वह है लोकतन्त्रात्मक राज्य। यदि इन सभी तथ्यों पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वे जीवन में तभी स्थापित हो सकते है जब हम एक-दूसरे के साथ समता का व्यवहार करे। अपने विचारो-आचारों को दूसरों पर न लादें और दूसरों के लिए वही स्थान देने को तत्पर रहें जो हम अपने लिए चाहते हैं, अर्थात् अहिंसा का आश्रय लेकर उस संघर्ष से इस देश को और इसके द्वारा संसार को बचायें जिसका मैने जिक्र किया है। 'यथा पिड तथा ब्रह्माण्ड' यह पुरानी कहावत है। जो संघर्ष हम व्यक्ति-जीवन मे समाज और देश के लिए अहितकर समझते है, ऐसे ही संसार के लिए भी अहितकर समझना चाहिए। इस देश में जहाँ इतने धर्मों के अनुयायी और इतनी भाषाओं के बोलने वाले बसते है, इन सिद्धान्तों को केवल सिद्धान्त रूप से समझना ही नहीं, उनको जीवन के प्रत्येक क्षण में बरतना आवश्यक और अनिवार्य है। तभी सच्चा लोकतंत्रात्मक राज्य हम स्थापित कर सकेंगे और क़ायम

रख सकेंगे जब हम इनको अपने जीवन में उद्देश्य मानें और ही प्रतिक्षण कार्य-रूप में सार्थक बना लें।

यह स्पष्ट है कि यदि मनुष्य अपने लिए ही जीवित है, तो वह उस समय जब उसका हित दूसरे से असंगत हो अपने हित-साधन को—न कि न्याय अथवा बंधुता अथवा समता को—सर्वोपरि मानेगा। बंधुता, न्याय, समता—सभी का तकाजा है कि शक्तिमान् दुर्बलों के, बुद्धिमान् कम-समझों के मूलभूत हितों का अधिक नहीं तो कम-से-कम उतना ही आदर करें जितना कि वे अपने हितों का करते हैं। इसी भावना को तो हमारे राष्ट्रपिता ने अहिंसा कहकर पुकारा था और इसी मान्यता पर हर अवस्था में डटे रहने को उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया था। मेरा दृढ़ विश्वास है कि देश में इसी आदर्श की व्याप्ति हमारे संविधान को बल देने वाली होगी और इस देश के प्रत्येक व्यक्ति के हितों का संरक्षण और देश की रक्षा करेगी—न कि मौलिक अधिकार और सुप्रीम कोर्ट, फौज और वायु या जल-सेना।

किन्तु इस आदर्श के फैलने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षा के केन्द्र जनता और शिक्षितों के बीच खाई खोदने वाले यंत्र अब न रहें जैसे कि वे विदेशी भाषा के कारण आज तक रहे हैं, और सचमुच में ही शिक्षा के केन्द्र हो जायें।

किन्तु जीवन की सफलता प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को विश्व-विद्यालयों में आज तक जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसमें आवश्यक सुधार करने की आवश्यकता है। अंगरेजी सल्तनत ने भारत में विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ और संगठन मुख्यतः अपने राज्य के संचालन की दृष्टि से किया था। अंगरेजी राज्य-तंत्र चलाने के लिए उन्हें ऐसे पढ़े-लिखे नवयुवकों की जरूरत थी जो अँगरेजी भाषा की मार्फ़त उनके दफ़्तरों का कार्य योग्यतापूर्वक कर सकें और साथ ही अँगरेजी संस्कृति का प्रभाव भी हिन्दुस्तान में फैलाने में मदद दें। एक विदेशी सत्ता के लिए ऐसा करना स्वाभाविक ही था। हमारी शिक्षा-पद्धति का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन से नहीं के बराबर था।

लेकिन भारत स्वतंत्र हो जाने के बाद अब सारी परिस्थिति बदल गई है। किसी भी देश की समुचित उन्नति करने के लिए शिक्षा की देश-व्यापी व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक है। सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विकास के लिए उच्च शिक्षा द्वारा योग्य कार्यकर्ताओं को तैयार करना जरूरी है। भारत में सभी तरह के प्राकृतिक धन की कमी नहीं है। किन्तु प्रकृति के साधनों का पूरी तरह लाभ उठाने के लिए ऐसे उत्साही नवयुवकों की आवश्यकता है जो अपनी वैज्ञानिक योग्यता व शिक्षण के जरिये देश की उत्पत्ति बढ़ाने में सहायक हों—लोक-राज को सफलतापूर्वक चलाने के लिए भी हमारे विश्व-विद्यालयों में ऐसे कार्यकर्ता तैयार होने चाहिएँ जो देश को उन्नत और समृद्धिशाली बनाने में अपनी सारी शक्ति लगाने को तत्पर रहें।

इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारत-सरकार ने कुछ महीने पहले एक 'यूनीवर्सिटी-कमीशन' क़ायम किया था। इस कमीशन की रिपोर्ट हाल ही में प्रकाशित भी हो चुकी है। रिपोर्ट तो बहुत लम्बी है और उसमें विविध विषयों की विस्तृत समीक्षा है। उन सब विषयों की चर्चा करने का यहाँ मेरा प्रयोजन नहीं है। मैं तो रिपोर्ट के केवल दो तीन पहलुओं की ओर आपका ध्यान खींचना चाहूँगा।

पहला प्रश्न तो है भाषा का—अंगरेजी-राज्य में अंगरेजी भाषा की प्रधानता रही। न केवल विश्वविद्यालयों की, बल्कि हाईस्कूलों की शिक्षा का माध्यम भी अँगरेजी रही। फलतः देशी भाषाओं के विकास को बहुत कम मौका मिला और अँगरेजी भाषा के प्रचार के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति व विचार-धारा को महत्त्व प्राप्त हुआ। किसी विदेशी भाषा को सीखना अहितकर हो, ऐसी बात नहीं है। दुनिया के सभी देशों में कम-से-कम एक विदेशी भाषा सीख लेना शिक्षा-क्रम में आवश्यक माना जाता है, और यह उचित भी है। फिर अंगरेजी तो आज संसार में अन्य भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक बोली जाती है। वह उन्नत और समृद्धिशाली भाषा है, उसका साहित्य जीवित और व्यापक है। इसलिए अंगरेजी भाषा के प्रति द्वेष रखने का, खासकर भारत आज़ाद होने के बाद, कोई कारण नहीं है। लेकिन अंगरेजी भाषा सीख लेना एक बात है, और उसे सबकी शिक्षा का माध्यम बना देना दूसरी बात है। इस वक़्त क़रीब सभी प्रान्तों में हाईस्कूलों की शिक्षा तो मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा दी जाने की व्यवस्था हो चुकी है। जहाँ पूरी तरह से अभी तक ऐसा नहीं हुआ है वहाँ मातृ-भाषा का माध्यम शीघ्र ही अनिवार्य किया जायगा, ऐसी हमें आशा है। लेकिन उच्च शिक्षा का माध्यम, कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़कर क़रीब-क़रीब सभी प्रान्तों में अभी तक अँगरेजी ही बनी हुई है। यहाँ तक कि आज भी हमारे कालिजों व विश्वविद्यालयों में संस्कृत व देशी भाषाओं का अध्ययन भी अँगरेजी माध्यम में हो रहा है। कालिदास व तुलसीदास की काव्य-कला का विवेचन अँगरेजी द्वारा किया जाता है, और परीक्षा में विद्यार्थी अपने उत्तर भी विदेशी भाषा में लिखते हैं। इससे अधिक आश्चर्य और दुःख की और क्या बात हो सकती है। लेकिन इन असंगत बातों को हमने आज तक सहा और सह रहे हैं। इससे यह पता चलता है कि विदेशी भाषा का मोह हमारे अन्दर किस हद तक प्रवेश कर चुका है।

'यूनीवर्सिटी-कमीशन' ने भाषा व शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में बारीकी से विचार किया है। कमीशन की सिफ़ारिशें संक्षेप में निम्न हैं—

१. उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो। लेकिन कुछ या सभी विषयों में इच्छानुसार राज-भाषा माध्यम द्वारा भी शिक्षा दी जा सकती है।

२. विश्व-विद्यालयों में तीन भाषाओं का ज्ञान आवश्यक हो। १—प्रादेशिक

भाषा, २—राज-भाषा हिन्दी और ३—अँगरेजी। हिन्दी और अँगरेजी सिखाने की व्यवस्था हाईस्कूल वर्गों से ही शुरू हो जानी चाहिए।

३. पारिभाषिक शब्दावली भारत की सभी भाषाओं के लिए एक-सी हो। वैज्ञानिक व टेकनीकल विषयों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को स्वीकार किया जाय, यद्यपि शब्दों की बनावट देशी भाषाओं के व्याकरण व ध्वनि-शास्त्र के अनुरूप हो।

मेरी राय में कमीशन की उक्त सिफ़ारिशें सामान्य रूप से संतोषजनक हैं। जहाँ तक उच्च शिक्षा की शिक्षा के माध्यम का सवाल है, यह स्पष्ट है कि वह अँगरेज़ी नहीं हो सकती। अँगरेजी माध्यम को जल्द-से-जल्द हटाने की कोशिश करना नितान्त आवश्यक है। उसकी जगह मातृ-भाषा या प्रादेशिक भाषा का माध्यम प्रारम्भ होना चाहिए। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का ख़याल है कि उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए, ताकि देश की सांस्कृतिक एकता क़ायम बनी रहे और विद्यार्थी व प्राध्यापक भारत की एक यूनीवर्सिटी से दूसरी यूनीवर्सिटी में अध्ययन के लिए आ जा सकें। लेकिन मेरी राय में हर एक विद्यार्थी का हक़ है कि वह अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा द्वारा ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके, विशेषकर जब कि हमारी प्रान्तीय भाषाएँ पर्याप्त ढंग से विकसित हो चुकी हैं। हाँ, अगर कोई विद्यार्थी कुछ या सभी विषयों को राष्ट्र-भाषा द्वारा पढ़ना चाहे, तो उसे आवश्यक सुविधा मिल जानी चाहिए। लेकिन राष्ट्र-भाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा अनिवार्य करना सर्वथा अनुचित होगा। हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि राष्ट्र-भाषा का उपयोग अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिए है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह प्रान्तीय भाषाओं का स्थान ले ले। इसलिए अगर उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा रहे और साथ-साथ अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की दृष्टि से राष्ट्र-भाषा को भी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाय तो किसी तरह की शिकायत की गुंजाइश नहीं रह जाती। राष्ट्र-भाषा की शिक्षा यूनीवर्सिटी कक्षाओं तक ऊँचे स्टैण्डर्ड की दी जानी चाहिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर प्रादेशिक विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थी अखिल भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में राष्ट्र-भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने योग्य बन जायें। इन अखिल भारतीय संस्थाओं का माध्यम राष्ट्र-भाषा रखना होगा, यह मेरी दृष्टि में निर्विवाद है।

पारिभाषिक शब्दावली के बारे में फिलहाल यही नीति व्यावहारिक रहेगी कि यथासाध्य देशी शब्दों के साथ-साथ कोष्ठक में अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया जाय। कुछ वर्षों बाद देशी शब्दों को स्थिर करना शायद शक्य हो सकेगा। अर्थ-शास्त्र, इतिहास, दर्शन-शास्त्र, राजनीति इत्यादि विषयों की शब्दावली का तो देशी भाषाओं

में काफ़ी चलन है ही। वैधानिक और दफ़्तरी शब्दावली विधान-परिषद् द्वारा तैयार की जा रही है जो देश के सभी भागों को मान्य होगी। लेकिन रसायन-शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भू-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र इत्यादि के लिए देशी शब्दों को बनाकर उन्हें प्रचलित करने में काफ़ी कठिनाई है और उनके बनाने में जैसा कमीशन ने बताया है रुपये, समय और योग्य विद्वान् लगेंगे। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भारत में इसके लिए काफ़ी धन और विद्वान् हैं जो इसे पूरा कर सकें। और यदि कर भी सकें तो यह सोचने की बात है कि यह कहाँ तक लाभप्रद होगा। विज्ञान बड़ी तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है, अपने लोगों को इस प्रवाह से अलग रखना न तो संभव है और न वाँछनीय। इसलिए हमें यह सोचना है कि किस अंश में हम अपनी शब्दावली प्रचलित कर सकते हैं और कहाँ तक सार्वदेशिक शब्दावली ग्रहण कर सकते हैं। कमीशन की राय है कि सार्वदेशिक शब्दावली लेना ही हितकर होगा। इसमें बहुत तथ्य है और यह विचारणीय है।

भारतीय विधान-परिषद् ने तय किया है कि भारत की राज-भाषा हिन्दी और राज-लिपि देवनागरी हो। लेकिन यह भी निश्चय हुआ है कि अहिन्दी-भाषियों की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार के दफ़्तर का काम पन्द्रह वर्ष तक अँगरेज़ी में चलता रहे। इस निश्चय की वजह से शायद कुछ शिक्षा-शास्त्रियों में घबराहट पैदा हो गई है, और कुछ लोग कहने लगे हैं कि विधान-सभा के उक्त निर्णय के कारण अभी कई वर्षों तक उच्च शिक्षा का माध्यम भी अँगरेज़ी ही बना रहना चाहिए। किन्तु यह ख़याल गलत है। विधान-सभा ने यह भी निर्णय किया है कि पाँच वर्ष बाद, और फिर दस साल के अन्दर ही किन-किन विभागों में अँगरेज़ी के साथ-साथ हिन्दी का चलन शुरू किया जा सकता है। पंद्रह वर्ष में तो दफ़्तरों का काम सभी केन्द्रीय विभागों में सम्पूर्ण रूप में हिन्दी में ही करना होगा। अगर इस निर्णय को सफल बनाना है तो यह बिलकुल ज़रूरी है कि हमारे विश्वविद्यालयों में मातृ-भाषा का माध्यम तथा राज-भाषा हिन्दी सिखाने का काम अविलम्ब शुरू कर दिया जाय। अगर विश्वविद्यालयों में ही देशी भाषाओं द्वारा काम करने की शक्ति रखने वाले तैयार नहीं होंगे तो फिर सरकारी दफ़्तरों में अँगरेज़ी को पन्द्रह वर्ष के बाद भी हटाना नामुमकिन हो जायगा और फिर हमें यह भी ख़याल करना चाहिए कि प्रान्तीय दफ़्तरों का काम-काज तो प्रादेशिक भाषाओं द्वारा ही चलेगा। कई प्रान्तों में तो इस कार्य की शुरुआत भी हो चुकी है। उदाहरणार्थ उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, राजस्थान इत्यादि ने हिन्दी को अपनी राज-भाषा घोषित कर दिया है। इन प्रान्तों के विश्वविद्यालयों को तो अँगरेज़ी-माध्यम शीघ्र ही हटा कर हिन्दी-माध्यम शुरू कर ही देना चाहिए, नहीं तो हिन्दी द्वारा राज-काज

चलाने वाले योग्य अफ़सर कहाँ से मिलेंगे ? मैं आशा करता हूँ कि सभी विश्वविद्यालय इस ओर गम्भीरता पूर्वक ध्यान देंगे और विधान-सभा के १५ वर्ष वाले निर्णय की ओट में आलस्य की शरण न लेंगे।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ, वह है ग्रामीण जनता का शिक्षण। अभी तक हमारे स्कूल, कालिजों व विश्वविद्यालयों का शिक्षण-कार्य मुख्यतः शहरों के लोगों के लिए रहा है और ९० फ़ी सदी ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई है। स्वतन्त्र भारत में यह स्थिति चालू रखना सर्वदा अनुचित होगा। देश की करोड़ों ग्रामीण जनता के हित का ख़याल किये बिना हमारी शिक्षण-व्यवस्था निकम्मी ही कहलायगी।

क़रीब १२ वर्ष पहले पूज्य महात्मा गांधी ने देश के शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान गाँवों की शिक्षा की ओर आकर्षित किया था, और देश के सामने 'बुनियादी तालीम' की पद्धति विचारार्थ रखी थी। इस पद्धति की विशेषता यह थी कि शिक्षा का माध्यम कोई रचनात्मक उद्योग रहे ताकि विद्यार्थी उद्योग भी सीख लें और साथ ही उद्योग की मार्फ़त विविध विषयों का अध्ययन भी कर सकें। भारत में व अन्य देशों में इस तरह की तो कई शिक्षण-संस्थाएँ रही हैं जो अपने विद्यार्थियों को कुछ समय केवल उद्योग सिखाती हैं और कुछ समय केवल विभिन्न विषयों का अध्ययन, लेकिन पूज्य गांधीजी की 'नई तालीम' इन सब प्रयोगों से एक कदम आगे है। इस पद्धति के अनुसार उद्योग सीखते वक़्त ही शिक्षक विद्यार्थियों को इस प्रकार शिक्षा देता है कि वे उद्योग में प्रवीण हो जाते हैं और भाषा, इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र इत्यादि विषयों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। 'नई तालीम' की पद्धति को शुरू हुए आज क़रीब-क़रीब १० वर्ष हो चुके और सभी प्रान्तों में इसका प्रचार हो रहा है। केन्द्रीय सरकार ने भी इसे अपनाया है और वह उसे फैलाने में यथाशक्ति सहायता देना चाहती है। मेरा निश्चित मत है कि भारत की ग़रीब ग्रामीण जनता को सुशिक्षित करने का सर्वोत्तम मार्ग पूज्य गांधीजी की बुनियादी या 'नई तालीम' ही है।

महात्माजी का यह भी विश्वास था कि 'नई तालीम' का ख़र्च भी विद्यार्थियों के उद्योग से ही निकल आयगा और इस तरह शिक्षा का प्रसार हो सकेगा। यद्यपि यह विचार कुछ समाज-शास्त्रियों को पसन्द नहीं आया, किन्तु इसमें तथ्य है, और जो प्रयोग बिहार में किया गया है उससे आशा होती है कि महात्मा जी का विचार अनुकूल परिस्थिति में सफल बनाया जा सकता है। ऐसी ही होना चाहिए, नहीं तो भारत-जैसे ग़रीब देश में शिक्षा सार्वजनिक नहीं बनाई जा सकती। अब मौक़ा है, हमारी सरकारें इस प्रयोग को सफल बनायें।

लेकिन यह 'नई तालीम' केवल प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षण के लिए ही उपयुक्त नहीं है। जैसा पूज्य गांधीजी ने स्वयं कहा था—"नई तालीम का क्षेत्र बच्चे की पैदाइश से बूढ़े की मृत्यु तक है।" मुझे खुशी है कि यूनीवर्सिटी-कमीशन ने इस सम्बन्ध में काफी विचार किया है और वर्तमान बुनियादी तालीम के पश्चात् ग्रामीण-विश्व-विद्यालयों (Rural Univercities) की योजना देश के सामने पेश की है। बुनियादी स्कूलों की शिक्षा पूर्ण करने के बाद देहातों के विद्यार्थियों को बड़े शहरों के विश्व-विद्यालयों में आने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। गाँवों में रहकर ही उन्हें ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा होनी जरूरी है। यूरोप के कई देशों में, विशेषकर डेनमार्क में, इस तरह के जन-महाविद्यालयों (People's Colleges) का संचालन बहुत वर्षों से हो भी रहा है। यूनिवर्सिटी-कमीशन का सुझाव है कि इस तरह ग्रामीण महाविद्यालयों या विश्व-विद्यालयों में ग्रामोद्योगों द्वारा पूज्य गांधीजी की 'बुनियादी तालीम' के सिद्धान्तों के अनुसार संपूर्ण शिक्षण प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार देश में ग्रामोद्योगों का चलन भी स्वाभाविक रूप से बढ़ेगा और साथ ही व्यावहारिक व उपयोगी शिक्षण का प्रचार भी होगा। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि ग्रामोद्योगों के व्यापक संगठन के बिना भारत की समुचित आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। ग्रामीण विश्व विद्यालयों द्वारा दो महत्त्व के कार्य एक साथ सध सकेंगे। ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा और देहाती जनता को उद्योगों की मार्फत ही विविध विषयों की उच्च शिक्षा घर बैठे प्राप्त हो सकेगी। मैं आशा करता हूँ कि इस योजना को जल्द-से-जल्द कार्यान्वित करने की कोशिश की जायगी।

एक और विषय है जिसको मैं बहुत महत्त्व का समझता हूँ। वह है नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षण। दुर्भाग्यवश अंगरेजी राज्य के जमाने में इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। फलतः आज विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का ध्यान नैतिकता व आध्यात्मिकता की ओर जाता ही नहीं, और एक प्रकार से उनमें उनका अभाव सा होता है। नैतिक शिक्षण से मेरा अर्थ किसी धर्म-विशेष का शिक्षण नहीं है। किन्तु यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों की सामान्य जानकारी हो और सर्व-धर्म-समभाव का आदर्श उनके सामने उपस्थित किया जाय। विभिन्न देशों के महापुरुषों का जीवन और उनके आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन हमारा एक आवश्यक अंग माना जाना चाहिए। बिना नैतिक शिक्षण के कोई भी शिक्षा-पद्धति पूर्ण नहीं कही जा सकती। यह सच है कि सच्चा नैतिक शिक्षण तो चरित्रवान् अध्यापकों के जीवन द्वारा ही दिया जा सकता है। फिर भी विभिन्न धर्मों के विशेष ग्रन्थों की जानकारी व उनका अध्ययन, शिक्षण की दृष्टि से मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। मुझे खुशी है कि

युनिवर्सिटी-कमीशन ने इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। अध्ययन के अलावा चरित्र-गठन के लिए अच्छे उदाहरण और उन पर चलने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। अभ्यास के बिना जब हम कदम मिलाकर चलना भी नहीं सीख सकते, तो सच्चरित्र होना कैसे सम्भव है? इसलिए सेवा-कार्यों में भाग लेना, छोटे-छोटे मौक़ों पर भी कुछ करते रहना, सत्याचरणादि इसके वस्तु पाठ हैं। इनको पाठ्य-क्रम में यथोचित स्थान मिलना चाहिए।

हमें यह भी स्मरण रखना है कि अपने विश्व-विद्यालयों को पुनः संगठित करते समय हम भारत के प्राचीन महाविद्यालयों की उज्ज्वल परम्परा व आदर्श को न भूलें। अँगरेज़ों ने हमारी शिक्षा-पद्धति अभारतीय बना दी है यह हमें ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। स्वतन्त्र भारत की शिक्षा हमारे देश की प्राचीन संस्कृति के अनुरूप होनी चाहिए। उसकी जड़ इस भूमि में हो, न कि विदेशों की संस्कृति में। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य देशों से हमें कुछ सीखना ही नहीं है। हमें गुण-ग्राहकता का पाठ तो सीखना और सिखाना है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम अपनी संस्कृति को ही भूलकर दूसरों की नक़ल करने में लग जायें। आज हमारे विश्व-विद्यालयों में विद्यार्थियों को इतिहास की अधिक जानकारी विदेशों की दी जाती है, और भारत की अपेक्षाकृत कम। दर्शन-शास्त्र के अभ्यास-क्रम में भी भारतीय दर्शन को उचित स्थान व महत्त्व नहीं दिया जाता। यह स्थिति अब शीघ्र बदल जानी चाहिए, ताकि हमारे विश्व-विद्यालय भारतीय संस्कृति के जीवित केन्द्र बन सकें।

भारत स्वतंत्र हुए करीब ढाई वर्ष हो गए। हमारे सामने आज बहुत सी जटिल समस्याएँ हैं जिन्हें शीघ्र सुलझाना आवश्यक है। हमारी सामाजिक व आर्थिक स्थिति चिंताजनक है। नैतिकता, ईमानदारी व त्याग की भावना का अभाव है। हम स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं और देश के उत्थान का कम। इस परिस्थिति को किस तरह सुधारा जाय? जब तक हमारी शिक्षण-संस्थाएँ नहीं सुधरेंगी, तब तक यह कठिन काम पूरा नहीं हो सकता। हमारे विश्वविद्यालयों में हमें ऐसे चरित्र-वान प्राध्यापक चाहिएँ, जो स्वार्थ को उन्नति के सामने बलिदान करने को सदा तैयार रहें, और अपने तेजस्वी जीवन द्वारा विद्यार्थियों को त्याग व देश-सेवा की स्फूर्ति प्रदान करें। प्राचीन भारत में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक था। आज यह सम्बन्ध व्यावसायिक व आर्थिक बन गया है। हमें फिर से यह आत्मिक सम्बन्ध क़ायम करना है ताकि नवयुवकों में चरित्र-बल उत्पन्न हो सके और आज़ाद भारत के भविष्य की पक्की नींव पड़ सके। हम यह न भूलें कि चरित्र-गठन के बिना हमारे शिक्षण की इमारत रेती की नींव पर ही खड़ी रहेगी और ज़रा-सा तूफ़ान आने पर वह गिरकर मिट्टी में मिल जायगी। हमारे पूर्वजों ने इस बात को पहचाना था, उन्होंने कहा

था कि वे लोग जो केवल विद्या की पूजा करते हैं, अन्धकार लोक को जाते हैं। वे ही लोग अमृत का पान करते हैं जो विद्या के साथ ही कल्याण-साधना को भी अपनाते हैं। आज के जगत् मे यह अत्यन्त आवश्यक है कि जीवन मे ध्वनित इस आध्यात्मिक गान को मानव सुने। आज के मानव ने बुद्धि-बल से अपनी उस हीनता को दूर कर दिया है जो उसको अपने पशु-जीवन मे बाँधे हुए थी। आज उसके पास रोटी और कपड़ा इतनी मात्रा मे है वह उन्हे इतनी मात्रा मे पैदा कर सकता है कि उसे किसी समय भी उनके लिए चिन्तित न होना पड़े। किन्तु यदि आज भी उन्हे उनकी चिन्ता करनी पड़ रही है, यदि आज भी कुछ लोग बिना रोटी और बिना घर-बार हैं, तो उसका कारण यही है कि मनुष्य की बुद्धि-साधना के पीछे कल्याण-साधना नहीं है, और वह इसलिए कि वह भोग-लिप्सा के पीछे अपने सच्चे आदर्श को, अपनी मानवता को भुलाए हुए है। आज मनुष्य स्वर्ग-द्वार पर खड़ा है; किन्तु उससे स्वर्ग के द्वारपालों का यही प्रश्न है, क्या तुम उसके अन्दर जाने के योग्य हो, यदि हो तो आओ। इस प्रश्न का उत्तर आप सब युवकों को देना है, भविष्य का भार आपके कन्धों पर है। संसार का सारा इतिहास, मानव के सारे पूर्वज उत्सुकता से आप सब युवकों की ओर देख रहे हैं। मानव-जीवन के चरम विकास को, पृथ्वी पर स्वर्ग को, या गांधी जी के राम-राज्य को स्थापित करना आपके हाथ में है। उसी की स्थापना मे मानव-जीवन की सफलता है। जीवन को 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' बनाने का भार अपने कन्धों पर लेकर आप आगे बढ़ रहे हैं और मेरी जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह आपको सद्बुद्धि दे, शक्ति दे और समय दे कि इतिहास के उस अमर प्रश्न को, मानव की उस अमर आकांक्षा को आप पूरा करने में सफल हों।

२

विश्वविद्यालय की शिक्षा : स्वरूप और क्षेत्र[1]

आप सब स्नातिकाओं और स्नातकों को, जो आज इस विश्वविद्यालय से उपाधियाँ लेकर जीवन के बृहत् क्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं, यह स्मरण रखना चाहिए कि आप यह क़दम ऐसे समय और स्थितियों में उठा रहे हैं जब हमारे देश के सामने अत्यन्त विषम समस्याएँ और प्रश्न उपस्थित हैं और जिन्हें सुलझाने में हम सबको अत्यन्त सूझ-बूझ और धैर्य से काम लेना है। सरदार वल्लभभाई पटेल के स्वर्गवास से तो इस बारे में कहीं अधिक सावधानी और सहयोग की आवश्यकता हो गई है। अब तक उनका वरद हस्त हमारे सिर पर था और हमें विश्वास था कि वे हमें सब विपत्तियों और बाधाओं से बचाते हुए आगे बढ़ाते जायँगे। तीस-बत्तीस वर्षों से वे देश और जनता की सेवा में अपने सारे समय और शक्ति को निरन्तर लगाते रहे। स्वतन्त्रता-संग्राम के तो वे प्रधान और प्रमुख योद्धा थे। महात्मा गांधी ने तो विमूढ़ भारत को अपनी सत्याग्रह-गीता सुनाकर स्वतन्त्रता के महायुद्ध के लिए तैयार किया था और साथ ही अपनी चतुर रण-नीति से हमें विजय की ओर अग्रसर किया था। सरदार वल्लभभाई इस स्वातन्त्र्य-सेना के एक कुशल और सफल रण-नायक थे। उनके पीछे हम सब साहस और विश्वास-सहित युद्ध-क्षेत्र में आगे बढ़ते रहे और वह दिन आया जब हमें पूर्ण सफलता मिली। उन्होंने देश को मुक्त ही नहीं कराया वरन् चन्द्रगुप्त मौर्य की तरह देश को एक शासन-सूत्र में भी बाँध दिया और इस प्रकार हमारे देश को सहस्रों वर्षों के पश्चात् वैसा बल और सामर्थ्य प्रदान कर दिया जैसा कि उसमें अपने चरम राजनैतिक उत्कर्ष के युग में भी शायद ही कभी रहा हो। ऐसे अपूर्व योद्धा और राज-नायक के बिछुड़ जाने से हम पर जो भार आ पड़ा है वह साधारण नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद वे नव-सृजन के काम में लगे थे। वह अभी पूरा नहीं हुआ था कि वह चल बसे। उसे पूरा करना है। उसको सफलतापूर्वक पूरा करने का कार्य विशेषतः देश के युवक-युवतियों का और उनमें भी आप-जैसे शिक्षित व्यक्तियों का है। ऐसे समय में मनुष्य के साहस और पौरुष का परिचय मिलता है। आपकी शिक्षा-दीक्षा का आपके लिए और देश के लिए तब तक कोई प्रयोजन न होगा जब तक कि आप सरस्वती के प्रति अपने कर्तव्य और दायित्व को

---

[1] नागपुर-विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षान्त-भाषण, २९ दिसम्बर १९५० ।

पूरी तरह न निभायेंगे। सरस्वती तो ब्रह्मा की सृजन-शक्ति है जिसमें जगत-पिता प्रतिक्षण लिप्त रहते हैं। अतः उन सब व्यक्तियों का, जो सरस्वती का वरदान प्राप्त कर चुके हैं, यह परम कर्तव्य है कि वे अपने को नवसृष्टि के पुण्य कार्य में लगा दें। विश्वविद्यालयों का भी यही धर्म है कि अपने विद्यार्थियों में इसी सेवा और सृजन-भाव को जगा दें और उनको मानव-जाति का ऐसा सेवक बना दें जो अपना यह धर्म समझते हों कि मानव-जीवन को सब बाधाओं और व्याधियों, सब कमियों और कठिनाइयों, सब विपत्तियों और विफलताओं से बचाने के लिए आवश्यक सांस्कृतिक और आर्थिक संसार की नवसृष्टि उन्हें करनी है या कम-से-कम ऐसे नये संसार की सृष्टि में अपने जीवन को उन्हें लगा देना है।

थोड़े ही दिन हुए हम स्वतन्त्र हुए हैं। हमने स्वतन्त्रता एक विचित्र ढंग से प्राप्त की है। जहाँ कहीं भयंकर लोहू-लुहान द्वारा क्रान्ति होती है वहाँ की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि क्रान्तिकारियों को खुला मैदान मिलता है और वह जैसा चाहें कर सकते हैं और बात-बात में सामाजिक और दूसरी बातों में बड़े परिवर्तन ला सकते हैं—विशेष करके जब उनको साधन-सम्बन्धी कोई मानसिक अथवा नैतिक बाधाएँ नहीं होतीं। हमने स्वतन्त्रता-प्राप्ति में अहिंसा को ही अपना साधन रखा और यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि हम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी उसके वैसे ही पुजारी हैं जैसे हम पहले पुजारी और साधक थे, तथापि हमारे लिए इस प्रकार की क्रान्ति सम्भव नहीं रही जैसी कि उपर्युक्त दूसरे अन्य क्रान्तिकारियों की हुआ करती है। हमारे हाथों में एक जीवित और चलता शासन आया है और हम उसके अनेकानेक बन्धनों से अपने को मुक्त नहीं कर पाए हैं। इसलिए हमें पग-पग पर यह सोचना पड़ता है कि इस यंत्र को बिना तोड़े-मरोड़े हम कैसे काम चला सकते हैं और अपने ध्येय तक पहुँच सकते हैं। यहाँ न समय है और न यह मौका है कि इस बात पर विचार किया जाय कि उन मौलिक सिद्धान्तों पर हम कहाँ तक अड़े हुए हैं जो महात्मा गांधी जी की हमारे लिए और संसार के लिए देन है। मैं यहाँ केवल एक ही विषय लेकर विद्वानों और विद्या-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, चूँकि विद्वानों, विद्या-प्रेमियों और विद्यार्थियों के समारोह में आज हमको उसी क्रान्ति के दृष्टिकोण से शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना आवश्यक है, और यह देखना है कि इस चलते हुए कारखाने को हम किस तरह अपने काम के लायक बना सकते हैं। आज देश के प्रत्येक जीवन से बँधी संस्था का उद्देश्य और उस उद्देश्य-पूर्ति की योग्यता को ध्यान में रखकर उसमें क्या परिवर्तन आवश्यक हैं, यह विचार करके देखना है। हमारा हाल वैसा ही है जो किसी ऐसे कारखाने के मालिक का होता है जिसके हाथ में एक चलता हुआ कारखाना आ जाय जो बहुत खर्च और परिश्रम करके बनाया

गया है और जो जिस चीज को बनाने के लिए तैयार किया गया था उसे कुछ हद तक सफलता पूर्वक बनाता भी था। हमें यह पता चलाना है कि किस तरह कम-से-कम तोड़-मरोड़ किये बिना और कम-से-कम आर्थिक पूंजी लगाकर एक नई वस्तु को तैयार करने के लिए इसे परिवर्तित और परिवर्धित किया जा सकता है।

शिक्षा का कारखाना एक ऐसा कारखाना है जो ऐसी बुनियादी चीज़ पैदा करता है जिसकी ज़रूरत सभी दूसरे कारखानों को हुआ करती है और जिसकी उत्पत्ति और सफलता पर दूसरे कारखानों की सफलता-असफलता निर्भर रहा करती है। इसलिए हमको इस कारखाने के उद्देश्य, यन्त्र, साधन इत्यादि सभी चीज़ों का अच्छी तरह विचार कर लेना है और इसमें आवश्यक परिवर्तनों को भी कर लेना है। मैं मानता हूँ कि इस कारखाने में जो माल अब तक तैयार करके दिया जाता रहा है वह अब हमारे काम में बहुत सहायक नहीं हो सकेगा और नये प्रकार की वस्तुएँ हमको इस कारखाने से अब निकालनी है।

जिस समय आधुनिक शिक्षा की परिपाटी, क्रम और माध्यम उस समय के कर्णधारों ने निर्धारित किया था, वे उस समय के काम के लिए उपयोगी और समुचित समझे जा सकते थे। आज की स्थिति में वे खपते नहीं और इसलिए उनमें बुनियादी रद्दो-बदल आवश्यक हो गई है। यह कहना न तो अँगरेजों की शिकायत है और न उन पर लांछन है कि उन्होंने शिक्षा-पद्धति में दो बातों पर अधिक जोर दिया, वे चाहते थे कि शिक्षा द्वारा ऐसे लोग तैयार किये जायँ जो शासन में उनकी सहायता कर सकें और यह मानते तथा विश्वास करते थे कि उनका साहित्य और उनकी अपनी सभी चीजें हमारे देश की संस्थाओं, चीज़ों और साहित्यों के मुकाबले में समृद्धिशाली और समुन्नत हैं और उनको प्रसारित और प्रचारित करना उनका कर्तव्य है और उन्हें वह हमारे लिए भी हितकर मानते थे। उनका ऐसा मानना स्वभाविक था, क्योंकि वे अपनी चीज़ों से अधिक परिचित थे। थोड़ी संख्या में होते हुए भी उन्होंने इतने बड़े देश के असंख्य जन-समूह को अपने काबू में कर लिया था और हममें ही इतनी शक्ति न थी और न बुद्धि और न वह कौशल जिनके द्वारा हम उनका मुकाबला कर सकते। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा, अपनी विद्या और संस्थाओं को ही प्रसारित और प्रचारित करना उचित और आवश्यक समझा। हमको आज देखना है कि उनसे हमको कहाँ तक लाभ पहुँचता है और कहाँ तक हानि; और उनसे हम अब कहाँ तक काम ले सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि शिक्षा की बुनियाद विशेष करके अँगरेज़ सरकार के कर्मचारी तैयार करने के लिए ही डाली गई थी और हाल तक हमारे शिक्षा-क्रम और पाठ्य-विषयों में देश की बहुमुखी उन्नति की ओर ध्यान नहीं गया था। पहली चीज़ तो यह

थी कि शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा बना दी गई थी। इसमें ऐसे लोग बहुतायत से तैयार होने लगे जो अँगरेज़ों के शासन करने में उनकी भाषा द्वारा ही उनकी मदद कर सकें और उनको यहाँ की जनता की भाषा और उसमें संचित साहित्य जानने की आवश्यकता शासन-कार्य के लिए कम-से-कम पड़े और उस श्रम से, जो एक विदेशी भाषा और साहित्य जानने के लिए आवश्यक है, वे बच जायँ। आज यह कहने की ज़रूरत नहीं है और इसको सभी शासक, विद्या-प्रेमी और शिक्षा-शास्त्री मानते हैं कि बच्चे की शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा ही उसके लिए अधिक हितकर होती है और उसके मस्तिष्क और चरित्र के विकास में सहायक हो सकती है। इस तरह यद्यपि हमने अँगरेज़ी-साहित्य से बहुत-कुछ सीखा है और जाना है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि साथ ही हम बहुत करके निस्तेज अप्रतिभ और पंगु भी बन गए हैं। १६२१ की एक बात मुझे याद है, क्योंकि उसी के बाद मैं खुले दिल से राष्ट्रीय-शिक्षा अर्थात् अपनी मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा का दृढ़ विश्वासी और पक्षपाती हो गया, जो अब तक हूँ। उन दिनों में अँगरेज़ी सरकार द्वारा स्थापित और उससे सम्बद्ध शिक्षणालयों के बहिष्कार का आन्दोलन ज़ोरों से चल रहा था। महात्मा गाँधी जी के साथ मैं भी उड़ीसा में भ्रमण कर रहा था। एक बड़ी सभा में एक वृद्ध सज्जन ने महात्मा जी से एक प्रश्न कर दिया। उन्होंने पूछा कि आप इस शिक्षा की क्यों शिकायत करते हैं और इन शिक्षणालयों का क्यों बहिष्कार करना चाहते हैं ? क्या यह सारा स्वराज-सम्बन्धी आन्दोलन इसी का फल नहीं है ? क्या लोकमान्य तिलक और आप-जैसे प्रतिभाशाली लोग इसी से नहीं उपजे हैं ? महात्मा जी ने उत्तर दिया कि इतने दिनों की अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार के बाद भी लोकमान्य-जैसा एक प्रतिभाशाली हुआ है, पर यदि विचार करके देखा जाय तो पूर्व-काल की प्रतिभा के सामने लोकमान्य तिलक भी शायद फीके पड़ जायँ। दूसरे ऋषियों को तो छोड़ दिया जाय जिनका वृत्तान्त हमें मालूम नहीं है, पर गौतम बुद्ध, शंकर, और हाल में अँगरेज़ी काल के कुछ पहले तुलसी-दास और कबीर दास की प्रतिभा का कौन मुकाबला कर सकता है, और यह कौन कह सकता है कि यदि विदेशी भाषा के माध्यम का बंधन और बोझ लोकमान्य के मस्तिष्क पर न पड़ा होता तो वे जो थे उससे भी कहीं अधिक महान् नहीं होते। बात यह है कि जो कुछ प्रतिभा हमारे लोगों ने अँगरेज़ी शिक्षा पाकर प्रदर्शित की है यह अँगरेज़ी शिक्षा के कारण नहीं, बल्कि उसके बावजूद कर पाए हैं। मैं इस बात को सत्य मानता हूँ और इसीलिए मेरा अटल विश्वास है कि अपनी भाषा का माध्यम होना हमारी स्फूर्ति और विकास के लिए अनिवार्य और आवश्यक है। पर यह विदेशी भाषा का बोझ सारे देश के मस्तिष्क को दबाए रख सका इसका एक सबूत यह भी है कि यद्यपि इतने बरसों से यह व्यवस्था प्रचलित है पर आज की

आधुनिक विद्या और विज्ञान मे हमारे लोगों की हाल तक बहुत कम देन हुई है। जब से राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ा और जैसे जैसे वह ज़ोर पकड़ता गया राजकीय विषयों के अलावा दूसरी दिशाओं में भी हमारी बुद्धि कुछ खुलने और खिलने लगी और हमारे लोग कुछ-न-कुछ करके दिखला सके हैं।

केवल माध्यम का ही बोझ हमारी इस शिक्षा-पद्धति ने हम पर नहीं लादा। यद्यपि यह पद्धति यह कह कर प्रसारित की गई कि हमारा प्राचीन साहित्य आधुनिक विद्याओं से वंचित था तो भी आधुनिक विद्याओं, विज्ञान-कलाओं और उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का हमारे पाठ्य-क्रम में बहुत कम स्थान बहुत दिनों तक रहा। पिछले दो सौ वर्षों में नव-विज्ञान ने संसार को बहुत-कुछ सिखाया और दिखाया है। उसके चमत्कार आज सभी लोग देख रहे हैं और इसके शुभ और अशुभ परिणामों से लाभ और हानि उठा रहे हैं। अँगरेज़ी शिक्षा-पद्धति इस देश मे एक सौ से अधिक वर्ष हुए जारी की गई थी और हमारी पुरानी यूनिवर्सिटियों को स्थापित हुए भी लगभग सौ बरस हो गए हैं। पहले प्रायः पचास बरसों में विज्ञान का शिक्षा-क्रम में स्थान नहीं के बराबर था जहाँ-तहाँ मेडिकल कालिज तथा इञ्जीनियरिंग के लिए दो छोटे-मोटे विद्यालय खोल दिये गए थे, क्योंकि उनसे निकले हुए विद्यार्थियों की भी शासन को आवश्यकता थी।

पर उसे अधिक आवश्यकता ऐसे लोगों की थी जो उसके काम में दफ्तरों मे और कचहरियों में मदद कर सकें, इसलिए शिक्षा-क्रम में ऐसे ही विषय बहुत करके रखे गए जो उस तरह के लोगों के लिए आवश्यक समझे गए थे। कृषि-प्रधान देश में मैं नहीं जानता कि कृषि-सम्बन्धी विद्या और अनुभव देने वाला कोई एक भी विद्यालय प्रायः पचास बरसों तक इस देश में कायम किया गया था नहीं।

आधुनिक उद्योग और यन्त्रीकरण द्वारा उनको चलाना और उन्नत करना, इस युग का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी काम यूरोप में हुआ है। इसका आरम्भ प्रायः डेढ़ सौ बरस से अधिक हो गए इंगलैंड में हुआ था और हिन्दुस्तान से जो असंख्य धन अँगरेज़ों के हाथों में उन दिनों आया उसके द्वारा वे उद्योगीकरण में और देशों के मुकाबले में आगे रहे। पर इस तरह के उद्योगीकरण की कोई हमारे शिक्षणालयों द्वारा इस देश में हाल तक नहीं होता था और आज भी यद्यपि कालिजों और यूनिवर्सिटियों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है और बहुतेरे उद्योगीकरण के पक्षपाती हैं तो भी ऐसे विषयों को, जिनसे सहायता मिल सके, अभी तक पर्याप्त क्या, मामूली स्थान भी नहीं मिला है।

अँगरेज़ी ज़माने में न मिलना अँगरेज़ी दृष्टिकोण से स्वाभाविक भी था

क्योंकि वह अपने उद्योगों को बढ़ावा देना चाहते थे और हमारे देश को अपने कारखानों के लिए अधिक कच्चे माल जुटाने और तैयार माल खपाने का उपयुक्त क्षेत्र समझते थे । पिछली शताब्दियों में लड़ाई के बाद रूई पैदा करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ जो अँगरेज़ी कारखानों के लिए अधिक उपयोगी और लाभदायक सिद्ध हो । कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा-पद्धति का केवल मस्तिष्क पर ही बोझा नहीं रहा उसकी दिशा भी ब्रिटिश-साम्राज्य के लाभ की दृष्टि से ही निर्धारित की गई। इसका यह फल हुआ कि आधुनिक उद्योगों में भी अभी तक और देशों के मुकाबिले में हम पीछे पड़े हुए हैं । यहाँ इस विषय पर विचार करना असंगत है कि हम इस आधुनिक औद्योगिक होड़ में पड़ना देश के लिए कहाँतक लाभदायक समझते हैं । वह एक दूसरा विषय है और इसमें मतभेद की काफ़ी गुंजाइश है । यह विचार यहाँ पर इसलिए असंगत है कि जो लोग इस पद्धति के प्रचारक थे वह आधुनिक यूरोपीय संस्थाओं और समाज-गठन के विरोधी नहीं दृढ़ पोषक और सहायक थे, तो भी इस देश में उसका प्रसार उन्होंने नहीं किया और शिक्षा-यंत्र को ऐसा रखा जिससे उसके प्रसार में कोई सहायता नहीं मिली ।

हम चाहे जिस भी दृष्टिकोण से आधुनिक पद्धति पर विचार करें, यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है और सभी यूनिवर्सिटियों और शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करें और पाठ्य-क्रम को और माध्यम को बदलें।

इस यूनिवर्सिटी के सामने अपनी भाषा को माध्यम बनाने की उपयोगिता के सम्बन्ध में मुझे बहुत-कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी उपयोगिता को आपने सिद्धान्त रूप से मान लिया है और कार्य रूप में भी उसे दाखिल करने का काम आपने आरम्भ कर दिया है । इसके लिए मैं आपको बधाई देना चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि आप इस शुभ प्रयत्न में सचेष्ट रहेंगे तथा सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करने में सफलता प्राप्त करेंगे और उन लोगों में भी जो इसकी उपयोगिता और सामर्थ्य में विश्वास नहीं रखते, अपने सफल प्रयत्न द्वारा विश्वास पैदा कर सकेंगे। इसको सफल करने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता है । हमारी भाषाओं के लिए आधुनिक वैज्ञानिक विषय नए हैं और इसलिए उनमें उनके लिए पर्याप्त शब्दावली नहीं है और जो है भी, वह प्रचलित नहीं है । ऐसी शब्दावली का तैयार करना और प्रचार करना पहली आवश्यकता है । इस दिशा में भी आपकी यूनिवर्सिटी और सरकार प्रयत्नशील हैं । और इसके लिए भी मैं आपको बधाई देता हूँ । दूसरा काम यह है कि हमारे शिक्षणालयों की पद्धति और पाठ्य-क्रम में भी उपर्युक्त परिवर्तन किया जाय । यह शायद अभी जैसा चाहिए वैसा नहीं हो रहा है और मैं चाहूँगा

कि केवल इसी यूनिवर्सिटी में ही नहीं हमारी सभी यूनिवर्सिटियाँ इस ओर ध्यान दें।

विद्या का महत्त्व बहुत है। मनुष्य के मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, और आज के ज़माने में आर्थिक उन्नति के लिए भी विद्या आवश्यक है। इसलिए विद्या-प्रचार के जो साधन हैं वे ऐसे होने चाहिएँ जो विद्यार्थियों को प्रत्येक प्रकार की उन्नति प्राप्त करने के योग्य बना सकें। हम यदि और बातों को गौण मान लें और अर्थकरी विद्या को ही श्रेष्ठकर समझें तो भी पद्धति में बड़े परिवर्तन की आवश्यकता है। अब तक जो पद्धति प्रचलित है उसने शिक्षित और अशिक्षित दो विभागों में जनता को विभक्त कर रखा है और एक का दूसरे से सम्बन्ध बहुत करके विच्छेद कर दिया है। शिक्षित-समाज का रहन-सहन, खान-पान सब-कुछ अधिक खर्चीला हो गया है और उसकी आवश्यकताएँ कुछ ऐसी हो गई हैं जो गाँवों में पूरी नहीं हो सकतीं, इसलिए शिक्षित-समाज बहुत करके शहरों की तरफ़ चला आ रहा है और गाँव उसकी विद्या और अनुभव से वंचित होते जा रहे हैं। इसके अलावा खर्च बढ़ गया है, पर इस विद्या से सम्पत्ति के उपार्जन की योग्यता नहीं बढ़ती। जो दूसरे पैदा करते हैं उसको ले लेने की शक्ति भले ही बढ़ती हो पर उससे देश का दारिद्र्य दूर नहीं हो सकता और न उसकी सम्पत्ति में कोई वृद्धि हो सकती है। यह तो तभी हो सकता है जब धन पैदा करने की शक्ति में वृद्धि हो। पर वर्तमान अवस्था में तो सिर्फ़ पैदा हुए धन के बँटवारे से उन कुछ लोगों को अवश्य लाभ हो जाता है जिनको दूसरों का पैदा किया हुआ धन किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी कारण से मिल जाता है। पर देश की सामूहिक सम्पत्ति तो जैसी थी वैसी ही रह जाती है। बल्कि अगर इसका कुछ असर होता है तो बुरा होता है, क्योंकि जब पैदा करने वाले यह देखते हैं कि उनकी पैदा की हुई सम्पत्ति दूसरों पर ही किसी-न-किसी कारण से चली जाती है तो उनको अधिक पैदा करने का उत्साह भी नहीं रह जाता है और इस प्रकार अन्त में धन की हानि सारे देश के लिए होती है। इसलिए हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो केवल ऐसी विद्या ही न सिखाय जिसके द्वारा शिक्षित लोग सिर्फ़ दूसरे के कमाये हुए धन के भागीदार ही न हों बल्कि उसके बढ़ाने में कुछ मददगार भी हों। यह एक मानी हुई बात है कि जो शिक्षा पा लेता है वह बहुत करके उस काम के योग्य नहीं रह जाता है जो उसके घर वाले पहले किया करते थे और जिसके द्वारा वह गुज़ारा कर लिया करते थे। किसान का लड़का शिक्षा पाकर बेहतर किसान नहीं होता। उसे खेत में जाकर हल को हाथ में पकड़ने में या किसी दूसरी तरह से कोई शारीरिक परिश्रम करने में शर्म लगती है। उसी तरह बढ़ई का लड़का अपने पैतृक काम को करना नहीं चाहता। शिक्षित होने के अर्थ ही यह हो जाते हैं कि शारीरिक परिश्रम करने की योग्यता नहीं

तो अनिच्छा और ऐसे कामों के सिवाय, जिनमे लिखने-पढ़ने अथवा ज़बान को हिला-कर काम निकल सकता है, दूसरे किसी काम के प्रति अश्रद्धा। जब महात्मा गांधी जी ने बुनियादी तालीम में शिक्षा किसी धन्धे या उद्योग के द्वारा दिये जाने की बात कही तो उसमें बेहतर शिक्षा देने के अलावा यह भावना भी थी कि हाथों से और शरीर से काम करने में जो एक प्रकार की हीनता मानी जाती है वह दूर हो जाय और शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा बढ़े। मै मानता हूँ कि वह देश के लिए केवल इसी दृष्टि से आवश्यक नहीं है कि यदि उसे ठीक रीति से चलाया जाय तो शिक्षा का खर्च बहुत रोक करके उसी से निकल सकेगा और इस तरह शिक्षा को सस्ता किया जा सकता है बल्कि वह शिक्षितों के सुधारने में भी बहुत करके सफल हो सकता है और शिक्षित वर्ग उसके द्वारा तैयार हो सकेगा जो दूसरों के पसीने द्वारा उत्पादित धन का केवल बटवारा ही नहीं करेगा, बल्कि इज़ाफ़ा भी।

आज जिस तेज़ी के साथ विज्ञान द्वारा उद्योगों की उन्नति हो रही है उस दौड़ में अगर भारत कोई स्थान पाना चाहे तो उसके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपनी सारी शिक्षा-पद्धति को बदले।

देश में केवल बौद्धिक शिक्षा को महत्त्व न देकर कुछ नया ढंग निकालना है, जिसमें वह भेद, जो आज शहरी और ग्राम-जीवन में पैदा हो गया है और दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है वह दूर हो जाय और यह भय न रहे, कि कभी कोई व्यक्ति अथवा वर्ग ऐसा न हो जाय जो दूसरों के शोषण पर ही निर्भर करे और यह निश्चित हो जाय कि सभी स्वयं धनोत्पादन में हाथ बटायेंगे। मैं देखता हूँ कि चारों ओर नए स्कूल, नए कालिज और नई यूनिवर्सिटियाँ भी खुलती जा रही हैं और उनमें विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत बढ़ती जा रही है। पर यह कहना कठिन है कि यह सभी देश के लिए लाभदायक साबित होंगी। क्योंकि इनमें बहुत करके वही पुरानी पद्धति और पाठ्य-क्रम से काम लिया जा रहा है। मैं चाहता हूँ कि जब कहीं इस तरह की संस्थाओं की स्थापना की इच्छा या माँग हो वहाँ इस पर पूरी तरह विचार कर लिया जाय कि पुरानी लकीर पर चलने से लाभ है या नहीं और अगर नहीं तो इस नई संस्था द्वारा हम किस तरह कुछ नया रास्ता निकाल सकेंगे और लाभ पहुँचा सकेंगे।

यूनिवर्सिटी-कमीशन ने ग्राम-यूनिवर्सिटियों की बात कही है। महात्मा गांधी जी की बताई हुए नई तालीम की योजना हमारे सामने है। क्या इनके रहते हुए भी हम पुरानी लकीर के फकीर बने रहेंगे। तात्पर्य यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों का सम्बन्ध पूर्ण भारतीय जीवन से होना चाहिए न कि केवल राज-सत्ता से, जैसा कि अब तक है।

भारतीय जीवन से सम्पर्क होने का पहला अर्थ यह है कि विश्वविद्यालयों में वे

विषय अवश्य पढ़ाये जाने चाहिएँ जिनसे भारत की आर्थिक उन्नति करने में पूरी-पूरी सहायता मिले। यह बात तो सब जानते हैं कि भारत के आर्थिक जीवन का मूल आधार खेती-बाड़ी है। हमारे देश में कितने ही और उद्योग-धन्धे क्यों न हो जायँ और अनेक होने भी चाहिएँ और होंगे भी, किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ हमेशा ही खेती हमारा मुख्य और प्रधान उद्योग होगी। यदि यह विचार ठीक है तो स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा में कृषि-सम्बन्धी अन्य विज्ञानों की प्रधानता होनी चाहिए। यदि आज विश्वविद्यालयों के सिलेबस पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि कृषि-विज्ञान और तत्सम्बन्धी अन्य विज्ञानों का उनमें बहुत ही गौण स्थान है। कैसी विडम्बना है कि भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि की शिक्षा का ही लगभग अभाव हो। यदि हमारे देश में आज खाद्यान्न उतना लाभदायक नहीं जितना कि यह अन्यत्र है तो उसका एक कारण यह भी है कि हमारे यहाँ आधुनिक कृषि-शिक्षा का लगभग अभाव ही रहा है और जो-कुछ प्रबन्ध है भी, वह भी ऐसा है कि वहाँ के पढ़े-लिखे विद्यार्थियों को राज-सेवा के सिवाय और कृषि-सम्बन्धी कार्य में दिलचस्पी ही नहीं। यह कृषि-शिक्षा लाभदायक होनी है तो वह यहाँ की भाषा में यहाँ की स्थितियों का ध्यान रखकर और कम खर्चीली होनी चाहिए। तभी उसका लाभ हमारी कृषि के लिए होगा। कृषि के बाद हमारी आर्थिक उन्नति कपड़े के उद्योग पर निर्भर करती है। अतः हमारे विद्यालयों में कपड़ा-सम्बन्धी विज्ञान के पढ़ाने का भी प्रबन्ध होना चाहिए। ज्यादा ब्यौरे में न जाकर इतना कह देना ही मैं काफी समझता हूँ कि विद्यालयों के सिलेबस ऐसे होने चाहिएँ जिनका भारतीय आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

दूसरी बात, जो आवश्यक प्रतीत होती है वह यह है कि विद्यालयों में ऐसे आंकड़े होने चाहिएँ जिनसे यह पता चल सके कि उस वर्ष में किस आर्थिक क्षेत्र में कितने शिक्षित कर्मियों की आवश्यकता है और उनके आधार पर विद्यार्थियों को सलाह दी जानी चाहिए कि वह कौन से विषय अध्ययन करें। मैं समझता हूँ कि इस बारे में कुछ सुविधा इस बात से हो सकेगी कि विश्वविद्यालय राज्य की उद्योग, लोक-सेवा और कृषि-सम्बन्धी संस्थाओं इत्यादि से अपना निकट सम्पर्क रखें। यदि विद्यालयों को इस प्रकार का दिग्दर्शन मिलने लगा तो वह समय और शक्ति, जो आजकल व्यर्थ में बरबाद जाती है, काम में आने लगेगी। अक्सर यह होता है कि विद्यार्थी ऐसे विषय पढ़ने में अपना समय लगाता है जो बाद में उसके किसी काम में नहीं आता। पर यदि इस प्रकार योजनात्मक शिक्षा दी जाय तो देश का धन और युवकों की शक्ति व्यर्थ नष्ट होने से बच जायगी।

तीसरी बात जिसकी आवश्यकता है वह यह है कि शिक्षा-संस्थाओं को अपने

विद्यार्थियों में यह मनोभाव पैदा करना चाहिए कि शिक्षा का ध्येय सृजनात्मक सेवा है न कि उपभोग या सज-धज। अब तक शिक्षित वर्ग यही समझता है कि शिक्षा या तो सरस्वती का संगीतमय आभूषण है और या लक्ष्मी का सुखद वरदान। ऐसे बहुत से लोग हैं जो यह समझते हैं कि विद्या का प्रयोजन केवल यह है कि वे सभा-समाज में करीने के साथ उठ बैठ सकें, ढंग से वस्त्र पहन सकें, और शालीनता से बातचीत कर सकें। इस प्रकार शिक्षा को वे ऐसा भरण समझते हैं जिसके द्वारा उनके मन का सौन्दर्य निखर जाता है। यद्यपि इस बात में कुछ तथ्य है पर यह बिलकुल ठीक नहीं है। इसके पीछे केवल यही सचाई है कि विद्या निरे पशु-मानव को दिव्य-मानव बनाती है। वह उसे प्रकृति-प्रदत्त वासनाओं से ऊपर उठाकर ऐसी शक्ति प्रदान करती है कि वह प्रकृति की देन को अपनी सृष्टि से कहीं अधिक सुन्दर, उपयोगी और विस्तृत बना लें। किन्तु जहाँ उसमें यह सचाई है वहीं उसके अन्दर यह खतरा भी है कि कहीं इस विचार के कारण शिक्षित वर्ग अपने को अन्य मानवों से अलग और विशेषाधिकार वाला वर्ग न समझ ले। विद्या मनुष्य को दूसरा जन्म अवश्य प्रदान करती है, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि मानव द्विजत्व के उच्च शिखर पर बैठकर अन्य मानवों को क्षुद्र समझने लगे। शिक्षितों को तो यह ध्यान रखना चाहिए कि वे जनता की उदारता और सहारे से ही सरस्वती की उपासना करने की सुविधा पा सके हैं और इसलिए उनकी विद्या उनके पास उनके देशवासियों और पूर्वजों की ऐसी थाती है जिसे इन्हें व्याज सहित अपने भाइयों को फिर लौटा देना है। अतः विद्या को आभूषण न मानकर उसे तो सेवा का बैज ही मानना चाहिए। इसी प्रकार विद्या के केवल उपयोग की वस्तु, समझना चाहिए। अर्थात् केवल इस आधार पर कि वह शिक्षित है किसी भी व्यक्ति को जातीय आय में से मुख्य अंश की माँग न करनी चाहिए। उसको यह मानना चाहिए कि वह जातीय आय में से किसी अंश के लेने का तभी अधिकारी होगा जब वह अपनी-विद्या के प्रयोग से जाति की सांस्कृतिक या आर्थिक समुन्नति और अभिवृद्धि करता है। अतः विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा-संस्थाओं का धर्म है कि वे अपने विद्यार्थियों में यह मनोभावना पैदा करें कि विद्या जीवन की सृजन-शक्ति का ही दूसरा नाम है और जब तक वे अपने जीवन को सृजनात्मक कामों में नहीं लगाले तब तक वे न तो विद्या और न जीवन के प्रति वफादार साबित होंगे।

आप जैसे शिक्षित यवक-युवतियों का भी यह धर्म है कि वे शिक्षा के दायित्व और धर्म को ठीक-ठीक पहचानें। हो सकता है कि इस धर्म के निभाने में आपको पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़े और यह भी हो सकता है कि इसके दायित्व को पूरा करने में आप लक्ष्मी के वरदान से वंचित रहें। किन्तु आपको यह स्मरण रखना है कि आपका जीवन तभी समृद्ध होगा जब सारी जाति का जीवन समृद्ध हो।

यदि आपने जाति की गरीबी की अवस्था में अपने लिए समृद्धि चाही तो आप अपने शिक्षा-धर्म के सच्चे भक्त सिद्ध न होंगे। उस हालत में तो आप उन लोगों के भाई-बन्द हो जायेंगे जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हितों का हनन करने के लिए तैयार रहते हैं। मैं जानता हूँ कि आपका भावुक हृदय उस बात को कभी पसन्द न करेगा। अतः कमर कसकर इस बात के लिए तैयार हो जाइए कि जब तक पूरा देश समुन्नत, सुसंस्कृत और समृद्ध नहीं हो जाता तब तक आप अपने सुख-दुख का विचार छोड़कर ऐसे सृजनात्मक कामों में लगे रहेंगे जिनसे देश की आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति हो सकती है।

अनन्त काल से मानव पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान की ज्योति को लेकर संसार और समय के मध्य दौड़ रहा है। जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक वह इसे ऊँचा उठाये ही दौड़ता चला जाता है और थककर अनन्त निद्रा में गिरते समय दूसरे सशक्त और अनथके हाथों में इसे थमा देता है। इस दौड़ में आपके हाथ में यह ज्ञान-ज्योति इस विश्वविद्यालय ने थमा दी है। आप का धर्म है कि इसे आप निरन्तर जलती रखें और भविष्य के रहस्य-भरे अन्धकार को ज्योतिर्मय करते हुए तब तक दौड़ते चले जायँ जब तक कि आपमें प्राण है और अन्त में उसको अपनी भावी सन्तान को दे जायँ। यह महान् उत्तरदायित्व आप पर है और मेरी भगवान् से शुभकामना है कि वह आपको इस दायित्व को पूरा करने में सफलता दे।

३

शिक्षा और आज की समस्याएँ[1]

आज विश्वनाथ पुरी काशी सूनी है। हिन्दू-विश्वविद्यालय सूना है। हम सब हज़ारों की संख्या में यहाँ उपस्थित हैं, तो भी यह सभा सूनी है। आज हमें अनुप्राणित करने वाला, हमारा पथ-प्रदर्शन करने वाला, इस विश्वविद्यालय को जन्म देने वाला, इसका पालन-पोषण करने वाला, हमारे बीच म अपने पार्थिव शरीर के साथ नहीं है। इसलिए सब सना है। पर आत्मा अमर है, कीर्ति अमर है, यश अमर है। वही आत्मा आज हमें देख रही है। वही हम सबको अनुप्राणित करती रहेगी, कठिन घड़ियों में उत्साहित करती रहेगी, जैसा वह पार्थिव शरीर के साथ किया करती थी और हमारी शंकाओं और निराशाओं को, जैसे सूर्य की किरणें अन्धकार को दूर करती हैं, छिन्न-भिन्न करती रहेगी, और हमारे सामने सादा जीवन और उच्च विचार के महान् आदर्श को चिरकाल तक उपस्थित करती रहेगी। पूज्यपाद मालवीयजी पार्थिव शरीर के साथ हमारे बीच में नहीं हैं, पर उन्होंने जो रास्ता दिखलाया है—इस विश्वविद्यालय का अपने पुरुषार्थ और तपस्या द्वारा निर्माण करके कार्य-कुशलता और अध्यवसाय का जो आदर्श बताया है, वह हमारे जीवन के लिए और आने वाली पीढ़ियों के जीवन के लिए बहुमूल्य थाती है, जिस पर भरोसा करके हम दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ सकते हैं और बढ़ेंगे।

तीस बरस बीत चुके जब इस विश्वविद्यालय की स्थापना काशी की पवित्र भूमि पर हुई थी। उस समय से आज तक हज़ारों विद्यार्थियों ने यहाँ शिक्षा पाई और वे अनेकानेक स्थानों पर अनेकानेक कार्यों में लगे हैं। सभी प्रकार की विद्याओं में शिक्षा दी जा रही है और पूज्यपाद मालवीय जी की चिन्ता हमेशा यही रहा करती थी कि किस तरह नये विभाग खोले जायँ, जिनसे वे इस विश्वविद्यालय में सभी प्रकार के विद्यार्थियों के शिक्षण का समुचित प्रबन्ध कर सकें और खोजने वाले के लिए कोई भी विद्या यहाँ दुर्लभ न रह जाय। इन तीस बरसों में विश्वविद्यालय इस तरह आकार-प्रकार में दिनों-दिन उन्नति करता गया है पर तो भी हम यह नहीं कह सकते कि जो आदर्श आरम्भ में रखा गया था वह पूरा हो गया। अभी हमारे लिए बहुत-कुछ करने को रह गया है और उसको पूरा करने का भार सारे हिन्दू-समाज पर, विशेष करके इस

---

[1] काशी-विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षान्त-भाषण, ४, दिसम्बर १९४६।

विश्वविद्यालय में शिक्षित विद्यार्थियों पर है। मैं कुछ ऐसी बातों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जिनके पूरा हुए बिना पूज्यपाद मालवीयजी की आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती थी।

उन्होंने विश्व-विद्यालय-सम्बन्धी अपनी एक आरंभिक विज्ञप्ति में लिखा था कि—

"भारतवर्ष उस समय तक अपनी समृद्धि फिर नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि आधुनिक विज्ञान का अध्ययन और क्रियात्मक प्रयोग इस देश में एक प्रकार से एक स्वाभाविक वस्तु न बन जाय। विज्ञान उस समय तक एक राष्ट्रीय सम्पत्ति नहीं बन सकता जब तक कि उसका अध्ययन विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा होता रहेगा। उस समय तक विज्ञान का ऐसा विस्तार नहीं हो सकता कि वह इस देश की जनता की उस दरिद्रता का, जो फैली हुई है, दूर करने का साधन न बन जाय, जब तक उसका पुस्तकी ज्ञान और क्रियात्मक प्रयोग दोनों ही भारतवासी अपने ही देश में अपनी ही भाषा में प्राप्त नहीं कर पायंगे।"

इसी बात को पीछे चलकर दूसरी विज्ञप्ति में क्रियात्मक रूप देते हुए उन्होंने लिखा था :

"जो संस्कृत में शिक्षा चाहेंगे उन्हें वह शिक्षा दी जायगी। जो धर्म-शिक्षक बनना चाहेंगे अथवा जो आयुर्वेद सीखना चाहेंगे उनके लिए संस्कृत-शिक्षा अनिवार्य होगी। दूसरों के लिए संस्कृत का इतना ज्ञान पर्याप्त समझा जायगा जिससे वह संस्कृत में सुलभ धार्मिक ग्रन्थों को समझ सकें और अपनी देशी भाषा पर पूरा अधिकार प्राप्त कर सकें। दूसरों को पूरी शिक्षा उस देशी भाषा के माध्यम द्वारा दी जायगी जिसे देश में सबसे अधिक लोग समझ सकते है और वह भाषा हिन्दी है। ऐसी आशा की जाती है कि जो भारतीय विद्यार्थी टोकियो-युनिवर्सिटी में शिक्षा पाने के लिए जापानी भाषा भी सीखने के लिए तैयार रहते हैं वे इसे बुरा न मानेंगे, अगर उनको इस विश्व-विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करना पड़े। आज भी बहुतेरे विद्यार्थी मद्रास से बनारस आते हैं और वही एक प्रान्त है जहाँ कि प्रायः सभी लोग हिन्दी नहीं जानते। वे आते हैं संस्कृत पढ़ने, पर थोड़े ही दिनों में हिन्दी भी सीख लेते है।"

अँगरेजी माध्यम-द्वारा शिक्षा न देने के उन्होंने दो कारण बतलाये। पहला कारण यह है कि "जब हमारा उद्देश्य यह है कि जो कुछ यहाँ बतलाया जाय, वह देश के अधिक-से-अधिक युवकों को उपलब्ध हो तो हमें वही भाषा-माध्यम बनाना चाहिए जिससे अधिकांश लोग परिचित होंगे या जो आसानी से सीखी जा सके। ऐसा माना जाता है कि जितना समय केवल अँगरेजी भाषा का इतना ज्ञान प्राप्त करने

में लगता है, जितना शिक्षक की बातें समझने के लिए आवश्यक है उतना ही समय यदि देशी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाय तो विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए काफ़ी होगा। दूसरा कारण यह है कि यदि आरम्भ से ही शिक्षा देशी भाषा द्वारा न दी जायगी तो देशी भाषा में पाठ्य-पुस्तकों के बनने में बहुत विलम्ब लग जायगा, जिसका नतीजा यह होगा कि अँगरेज़ी ही माध्यम बनी रहेगी।"

इस उद्देश्य की पूर्ति के रास्ते में कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि "कोई ऐसी कठिनाई नहीं हो सकती जिसको अध्यवसाय और साहस द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी करना है उसका आरम्भ तो कर देना ही चाहिए, चाहे उसको पूरा करने में कितना भी समय क्यों न लग जाय।"

मनुष्य सोचता कुछ है, पर परिस्थिति उसे मजबूर करके कुछ और ही करा देती है। जब विश्व-विद्यालय की स्थापना का समय आया तो उनको मजबूर होकर कहना पड़ा :

"जब हिन्दू-विश्वविद्यालय का विचार पहले-पहल उपस्थित किया गया था तो यह प्रस्ताव किया गया था कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होगा। विचार था कि यह देशी-भाषा हिन्दी होगी क्योंकि यही देश में सबसे अधिक समझी जाती है। इस विचार का समर्थन १८५४ के खरीते में मिलता है जिसमें कहा गया है कि यूरोपीय कला और विज्ञान का ज्ञान आहिस्ता-आहिस्ता भारतीय भाषाओं द्वारा सभी लोगों तक पहुँचाया जायगा। पर ऐसा समझा जाता है कि यह देशी भाषाओं में उपयुक्त पुस्तकों और ग्रन्थों के अभाव में आज नहीं किया जा सकता है। यह भी मान लेना ही पड़ेगा कि किसी एक भाषा को ऐसे विश्वविद्यालय में, जहाँ भारतवर्ष के सभी विभागों से विद्यार्थी आयँगे, माध्यम बना लेने में बहुत ऐसी अमली कठिनाइयाँ आ जायँगी जिससे आरम्भ में बचना ही अच्छा होगा।

इसलिए यह तय किया गया है कि शिक्षा अँगरेज़ी के माध्यम द्वारा ही दी जायगी—लेकिन जैसे-जैसे देशी भाषाओं को वह उपयुक्त समझे और जिनमें शिक्षा दी जा सके उनको वह माध्यम बना ले।"

विश्वविद्यालय के विधान की पांडुलिपि में उसके उद्देश्यों में यह भी लिखा गया है: "कला विज्ञान एवं हुनर और पेशा-सम्बन्धी विषयों पर उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों और ग्रन्थों को देशी भाषाओं में निर्माण करना और निर्माण में प्रोत्साहन देना होगा।"

फिर भी उसमें कहा गया कि :

"अँगरेज़ी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जायगी। पर जैसे-जैसे देशी भाषाएँ

उन्नत होती जायँगी, अधिकारियों को अधिकार होगा कि उनमें से एक या अधिक को उन विषयों में शिक्षा देने का माध्यम मान लें जिसमें वह समझें कि ऐसी शिक्षा दी जा सकती है और देना लाभकर होगा । अँगरेजी एक दूसरी भाषा की तरह सिखाई जायगी ।"

मैंने इतने उद्धरण यह दिखलाने के लिए दिये है कि इस विश्वविद्यालय के निर्माता के प्रारंभिक विचारों से हम परिचित हो जायँ और हम यह भी जान ले कि किन मजबूरियों के कारण उन विचारों को कार्यान्वित करने मे वह विश्वविद्यालय की स्थापना के समय असमर्थ रहे और उन मजबूरियों को मानते हुए और परिस्थिति के सामने झुकते हुए भी उन्होंने आदर्श को नहीं छोड़ा और विधान में इस बात को खुले और स्पष्ट शब्दों मे घोषित किया कि समय पाकर वह विश्वविद्यालय मे हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम बनाकर रहेंगे । पिछले तीस बरसों में हिन्दी-साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और आज यह निर्विवाद है कि उसके भंडार में प्रायः सभी विषयों के उच्च-कोटि के ग्रंथ पाये जा सकते है । कठिनाई पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में अनुभव की गई थी, वह बहुत हद तक दूर हो चुकी है और जो कमी अभी है, वह आसानी से और शीघ्र दूर की जा सकती है ।

उर्दू का साहित्य हिन्दी के साहित्य से अधिक उन्नत या प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता । तो भी उस्मानिया-यूनिवर्सिटी में उर्दू को कई बरसों से माध्यम मान लिया गया है और जिन विषयों में मौलिक ग्रन्थ नहीं हैं, उन विषयों के मौलिक ग्रंथों को अनुवादित करके सहज और सुलभ बना दिया गया है । कोई कारण नहीं कि हिन्दी में भी वैसा ही क्यों न किया जाय । नागपुर की यूनिवर्सिटी हमारे इस विश्वविद्यालय से अवस्था में बहुत छोटी है । उसका प्रसार भी सारे सूबे में है और वहाँ दो भाषाएँ प्रचलित हैं—हिन्दी और मराठी । तो भी उसने हिम्मत करके उत्साहपूर्वक निश्चय कर लिया है कि वह हिन्दी और मराठी द्वारा ही शिक्षा देगी और विद्यार्थियों की परीक्षा लेगी । इस नये विधान का आरम्भ तो इसी वर्ष में हो जायगा, पर चार-पाँच बरसों में यह सभी कक्षाओं और वर्गों में प्रचलित हो जायगा, अर्थात् चार-पाँच बरसों के बाद उस यूनिवर्सिटी के किसी विभाग में और किसी कक्षा में विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा नहीं दी जायगी । काशी-विश्वविद्यालय भी यदि अपनी प्रारम्भिक नीति पर चलने को तैयार हो जाय और अपने विधान की उन धाराओं को कार्यान्वित करने पर तत्पर हो जाय, जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, तो मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा शिक्षा के रूप, प्रकार और प्रसार मे एक भारी परिवर्तन आ जायगा । यह विश्वविद्यालय एक प्रान्त या प्रदेश का नहीं, सार्वदेशिक है—अखिल भारतीय है । इसलिए यहाँ जो कुछ होगा उसका प्रभाव भी सार्वदेशिक होगा और

यहाँ हिन्दी का माध्यम बनना सारे देश के लिए एक अत्यन्त शुभ और मंगलमय कृत्य होगा। मेरा यह भी विश्वास है कि पूज्यपाद मालवीयजी की आत्मा को अपनी इच्छा की पूर्ति देखकर सन्तोष होगा और वह इसकी उन्नति के लिए आशीर्वाद देगी।

हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का यह अर्थ नहीं है कि अँगरेज़ी अथवा कोई दूसरी विदेशी भाषा नहीं सिखलाई जायगी। विदेशी भाषाओं का कुछ लोगों को सीखना अनिवार्य है। विदेशों के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क बढ़ता जायगा। विदेशी भाषाओं में अच्छे प्रभावशाली ग्रंथ लिखे जाते हैं। उनसे हिन्दी-भाषियों का परिचय करा देना विद्वानों का काम है। बहुतेरों को व्यापार अथवा विद्याभ्यास के लिए विदेशों में जाना आवश्यक होगा। इन सब कारणों से कुछ विदेशी भाषाओं का ज्ञान कुछ लोगों को प्राप्त करना ही होगा, पर ऐसे लोगों की संख्या थोड़ी होगी और उनके लिए यह ज्ञान प्राप्त करने का साधन इस विश्वविद्यालय में और दूसरी यूनिवर्सिटियों में उपलब्ध होना चाहिए। पर देश के सभी लोगों के लिए विदेशी भाषा का माध्यम होना अनावश्यक ही नहीं हानिकर भी है। इसलिए माध्यम तो हिन्दी होना चाहिए और प्रौढ़ विद्यार्थी जो विशेष ज्ञान-लाभ करना चाहते हैं, अथवा ऐसे लोग, जो विदेशी भाषाओं के भण्डार से सुन्दर ग्रन्थों को लेकर हिन्दी-भाषियों के लिए उल्था करना चाहते हैं, अथवा जो व्यापार और सफ़र के लिए विदेशों में जाना चाहते हैं वे भले ही विदेशी भाषा सीख लें। विज्ञान नित नये आविष्कारों से संसार को चकित करता रहता है, उनको जानना, उनसे लाभ उठाना, हमारे देश के लिए भी ज़रूरी है। उसके लिए भी विदेशी भाषाओं से परिचय आवश्यक है, पर विदेशी भाषा का माध्यम आवश्यक नहीं है।

हमारा देश अन्य देशों के मुक़ाबले में कई बातों में विशेषता रखता है। हिन्दू-समाज न मालूम कितने हज़ारों वर्षों से समय के थपेड़े खाता रहा है। इसने कितनी उथल-पुथल देखी हैं। इसका शासन कितने ही देशी-विदेशी शासकों के हाथों में समय-समय पर आता-जाता रहा है। कितने ही लुटेरों, व्यापारियों और ठगों ने यहाँ की समृद्धि को लालच और ईर्षा-भरी आँखों से देखा है और दबाकर, ज़ोर-ज़बरदस्ती से फुसला अथवा धोखा देकर उस सम्पत्ति का भाग लेते रहे हैं। इस देश ने आज तक किसी भी विदेश पर सैनिक आक्रमण नहीं किया है। हिन्दू-समाज का प्रभाव संसार के बहुत बड़े भू-भाग पर पड़ा। हमारे नाविकों ने दूर-दूर के देशों और टापुओं में जाकर इस देश की सभ्यता, ज्ञान, धर्म और धन का वितरण किया है। उनके साथ एक अटूट सम्बन्ध जोड़ा है, जिसको क़ायम रखने के लिए जल, थल और व्योम-सेना की कभी भी आवश्यकता नहीं पड़ी और न पड़ेगी। वह सम्बन्ध लोहे की ज़ंजीरों का नहीं है, बल्कि धर्म और संस्कृति का सुनहला, सुन्दर और सुखद सम्बन्ध है। आज भी उन

विदेशों में हमारी संस्कृति के चिह्न मिले हैं और उन देशों के लोग भारतवर्ष की ओर उसकी अवनत दशा में भी प्रतिष्ठा, प्रेम और श्रद्धा के साथ देखते हैं और हमारे देश के पुण्य स्थानों को तीर्थ-स्थान मानते हैं।

हमारा समाज समय की क्रान्तियों से अपने को बिलकुल अछूता नहीं रख सका, पर वह आज भी अपने मौलिक सिद्धान्तों के साथ अपनी संस्कृति के मौलिक आधारों के साथ ज्यों-का-त्यों खड़ा है। आज चीन के सिवा दूसरा कोई ऐसा देश नहीं, जो अपनी संस्कृति को अनन्त-काल से आज तक उस तरह सुरक्षित रख सका हो, जैसा हिन्दू-समाज ने किया है। इसका क्या कारण है ? आज क्यों हम प्राचीन समाजों की तरह समय के गर्त में विलुप्त नहीं हो गए हैं ? मैं मानता हूँ कि हममें एक ऐसी शक्ति है, जो हमें बचाती आई है और मेरा विश्वास है कि वह आगे भी बचाती रहेगी। मैं तो यह भी मानता हूँ कि वह शक्ति मौलिक और पार्थिव साधनों पर अवलम्बित नहीं है, वह मनुष्य की आत्मा से सम्बन्ध रखती है। वह केवल हमारे देश और समाज की ही रक्षा नहीं करती रहेगी, बल्कि सारे संसार के लिए त्राण-दाता बनेगी। पूज्य मालवीयजी उसी संस्कृति और शक्ति के एक अद्भुत उदाहरण थे और इस विश्वविद्यालय का निर्माण उन्होंने इसी उद्देश्य से किया था कि सारे देश को वे उस शक्ति द्वारा अनुप्राणित कर दें और इस देश को संसार की सेवा करने के लिए फिर एक बार योग्य बना दें। हम उन पुराने आदर्शों का थोड़ा दिग्दर्शन कर लें।

हमारे ऋषि बहुत करके निर्जन स्थानों में रहकर तपस्या किया करते थे और ज्ञान और विद्या के चाहने वाले वहाँ पहुँचा करते थे। राजाओं और भूपतियों के कुमार भी वहाँ ही जाकर की विद्या प्राप्त किया करते थे। विद्या प्राप्त करके संसार के काम में सब लोग लग जाया करते थे। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ केवल साधु फकीर ही तैयार होते थे, बल्कि योद्धा भी शस्त्र-विद्या वहाँ ही सीखा करते थे। श्रीरामचन्द्र को महर्षि विश्वामित्रजी ने धनुर्विद्या का ज्ञान दिया था। श्री कृष्ण को विद्याभ्यास के लिए सान्दीपन मुनि के यहाँ जाना पड़ा था। इन ऋषियों के विद्यार्थियों का जीवन आज के जीवन से बहुत भिन्न था। विद्या का क्रय-विक्रय नहीं हुआ करता था। गुरुदक्षिणा समिधा और सेवा के रूप में ही दी जाती थी और कुलपति केवल विद्यादान ही नहीं देता था—बल्कि विद्यार्थियों को भोजन भी दिया करता था। इसका फल यह होता था कि समाज में विद्या की प्रतिष्ठा होती थी और विद्वान् की प्रतिष्ठा की माप उसकी सम्पत्ति नहीं, बल्कि विद्वत्ता हुआ करती थी। विद्यादान सबसे बड़ा दान समझा जाता था और विद्वान् निर्धन होने पर भी प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाते थे। विद्या, बल और धन तीनों के लिए अलग-अलग स्थान हमारे समाज में दिए गए थे और सबसे ऊँचा स्थान विद्या और ज्ञान को ही मिला था, उसके बाद

बल को और तब धन को। आज के संसार में यह बात नहीं रही। आज तो किसी भी देश या व्यक्ति की प्रतिष्ठा धन अथवा बल से ही मापी जाती है। और इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी हो गया है। बल, धन उपार्जन के लिए प्रयोग में लाया जाता है और धन, बल उपार्जन के लिए। इसका नतीजा संसार में हम देख रहे हैं। विद्या, धन और बल की संचारिका अब नहीं रह गई। अब उनकी सेविका बन गई और उसके द्वारा जो अनर्थ कराना चाहते हैं करा लेते हैं। आज इसीलिए संसार के बड़े-से-बड़े विद्वानों की शक्ति घातक शस्त्रों के आविष्कार और निर्माण में लगाई जा रही है। लोगों ने मान लिया है कि भौतिक समृद्धि और सुख ही मनुष्य का एक-मात्र लक्ष्य है और उसके लिए जो कुछ भी किया जाय वह सराहनीय है। हमारे समाज के निर्माताओं ने तथा दूरदर्शी ऋषियों ने विद्या-बल और धन की मर्यादा बाँध रखी थी। विद्या और ज्ञान रखने वाले को न तो बल और धन हुआ करता था। बल रखने वाले को धन नहीं और धन रखने वाले को बल नहीं। सभी अपनी मर्यादा के अंदर देश और मानव-मात्र का हित-साधन ही अपना परम कर्तव्य समझा करते थे। इसलिए ब्राह्मण गरीब हुआ करते थे, पर उनकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी। क्षत्रिय बलवान हुआ करते थे, पर अपना बल दूसरों को सताने में नहीं बल्कि उन की रक्षा में लगाया करते थे। उनके पास धन विशेष करके नहीं हुआ करता था, पर वह एक ओर ब्राह्मण को, यद्यपि वह निर्धन और अबल हुआ करता था, सिर झुकाया करते थे और दूसरी ओर वैश्य के धन का लालच न करते हुए उसकी रक्षा किया करते थे। वैश्य अपने धन से सबकी सेवा किया करते थे और धन द्वारा किसी को खरीदने का प्रयत्न नहीं किया करते थे। इस चित्र की थोड़ी सी झलक आज भी जहाँ-तहाँ मिल सकती है और भारतवर्ष के मध्यकालीन युग में तो इसका अच्छा दर्शन हो सकता है। क्या इस समाज-संगठन का मौलिक तत्त्व सत्य और अहिंसा के सिवा और कुछ हो सकता है? आज हम मनुष्य के व्यक्तित्व पर भरोसा न करके बाहर के बन्धनों पर अधिक भरोसा करने लगे हैं और हम आशा करते हैं कि यदि व्यक्ति का सुधार न भी हो तो भी इन बाह्य बन्धनों के बल से हम समाज का सुधार कर सकते हैं। यह प्रयत्न पानी की दीवार खड़ी करने अथवा बालू की रस्सी बटने-जैसा प्रयत्न है। यह विचारणीय है कि आखिर इन बाह्य बन्धनों का निर्माता कौन होगा? इनको कायम रखने का भार किस पर होगा? हम यदि आशा करें कि समाज में कुछ लोग ऐसे पैदा हुआ करेंगे जो उन बन्धनों के निर्माण में उन सब गुणों का ही व्यवहार किया करेंगे, जिनके बिना कोई भी समाज चल नहीं सकता और समाज के दूसरे व्यक्ति सब-के-सब इन बन्धनों के बिना कुछ कर ही नहीं सकते, हमेशा इधर-उधर बहकते रहेंगे। उनको ठीक रास्ते पर रखने के लिए बंधन अनिवार्य है—तो हम एक अन-

होनी बात की मृग-तृष्णा में लगे रह जायँगे। समाज की उन्नति के लिए व्यक्ति की उन्नति आवश्यक है। उसके बिना समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता और हमको फिर एक-न-एक दिन व्यक्तियों की उन्नति की ओर जाना पड़ेगा और यह रास्ता छोड़ना पड़ेगा। हमारे समाज का निर्माण इस तरह व्यक्ति के आधार पर ही हुआ है और हम इस आधार को छोड़ नहीं सकते। इसे छोड़ना हमारे लिए ही नहीं बल्कि संसार के लिए अत्यन्त भयंकर होगा। हमको चाहिए कि हम इस आदर्श को न भूलें। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इसका पालन अनिवार्य होना चाहिए, जिनको आज के एक दूसरे अवतारी पुरुष ने अपने साथियों के लिए अनिवार्य बताया है।

महात्मा गांधी ने आश्रमवासियों और अपने सहकर्मियों के लिए नित्य की प्रार्थना में इन व्रतों को एक श्लोक द्वारा स्मरण कराते रहने का नियम बना लिया है :

"अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य्य असंग्रह:
शरीरश्रम अस्वाद: सर्वत्र भय वर्जन:
सर्व-धर्मी-समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना
हि एकादश सेवाभिर्नम्रत्वे व्रत निश्चये।"

ये वही व्रत हैं जो प्राचीन काल से माने जाते रहे हैं। इनका रूप आज की परिस्थिति के अनुसार थोड़ा बदल दिया गया है। इनके पालन द्वारा ही हम अर्थ, धर्म, काम तीनों को इस रीति से प्राप्त कर सकते हैं कि वह हमारे लिए और दूसरों के लिए कल्याण-प्रद हों न कि एक अभिशाप। इन व्रतों के पालन करने का परिणाम है कि एक का अर्थ दूसरे के लिए अनर्थ हो जाता है। एक का धर्म दूसरे के लिए अधर्म होता है, और जिससे एक संतुष्ट होता है उसी से दूसरा परितृप्त। यदि हम इन व्रतों का ठीक-ठीक पालन करें तो वह संघर्ष, जो आज हम देखते हैं और एक ही देश भिन्न-भिन्न विभागों और वर्गों के बीच में भयंकर विवाद और मार-काट का रूप धारण करके उपस्थित होता है, हमें न देखना पड़े। इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उन्हीं उच्च आदर्शों को सामने रखें और उन्हीं व्रतों द्वारा अपने जीवन को संयमित और सार्थक बनावें। इसी प्रकार से वह अपना और सबका कल्याण कर सकते हैं।

इन व्रतों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा गया और लिखा गया है। तो भी हम इनको पूरी तरह नहीं समझ पाए हैं और फिर भी जितना कहा जाय, थोड़ा होगा। इसके अलावा किसी भी विषय पर कुछ अधिकार-पूर्वक वही कह सकता है जिसने उसे अपने जीवन में उतारा हो। मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने इनको अपने जीवन में पालन करने की पूरी चेष्टा की है। पर इतना तो सभी कह और

समझ सकते हैं कि यदि इनको संसार के लोग मान लें और इन पर चलने लगें तो दुनिया की शक्ल बदल जाय। जहाँ आज मार-काट और दंगा-फ़साद है वहाँ प्रेम सुख और शान्ति हो जायगी। आज के सारे झगड़े इसलिए हैं कि प्रत्येक अपने लिए सब-कुछ चाहता है और दूसरों की परवाह नहीं करता। यदि अपने साथ-साथ दूसरे की परवाह हम करने लगें तो बहुत झगड़े यहाँ ही समाप्त हो जायँगे। अहिंसा का व्रत हमें यही सिखाता है कि दूसरे को न दुखाओ। अन्याय कोई करे तो उसको सहन मत करो पर अन्यायकारी के साथ विद्वेष न करो। अभय इसका एक अंग-मात्र है। जहाँ हिंसा नहीं है वहाँ भय हो ही नहीं सकता। और जहाँ हिंसा है वहाँ भय बिना हुए नहीं रह सकता। इसलिए अहिंसक के समीप में हिंसक जन्तु भी अहिंसक हो जाते हैं। यह तभी हो सकता है कि उस अहिंसक जन्तु से किसी प्रकार का भय न हो। यदि हम भय करते हैं तो अहिंसक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि भय का अर्थ है कायरता और कायरता को अहिंसा नहीं कहा जा सकता। यदि कोई हमारे साथ अन्याय करता है और निर्भय होकर उसका हम अहिंसात्मक विरोध करते हैं तो उसकी हिंसा को भी हम शान्त कर सकते हैं, पर यदि भयभीत होकर अन्याय का हम प्रतिरोध न करें तो यह निरी कायरता है, इनमें न तो अहिंसा है और न किसी दूसरे प्रकार का नैतिक बल। हाँ! ऐसा अक्सर हो सकता है कि अहिंसा की आड़ में कायरता को आश्रय मिल जाय। पर जहाँ ऐसा हुआ वहाँ अहिंसा नहीं रहेगी। इसलिए अहिंसा के इस तत्त्व को समझ लेना चाहिए कि अहिंसा किसी प्रकार के अन्याय को सहन करना नहीं सिखाती। वह सिखाती है उसका विरोध करना। सबसे उत्तम तो यह रास्ता होगा कि अपने ऊपर कष्ट उठाकर उसका विरोध किया जाय और आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण देकर भी उसे रोका जाय, यदि यह करने की शक्ति न हो तो अहिंसा की आड़ में उसके सामने सर न नवाया जाय, पर जिस प्रकार से हो सके उसका विरोध किया जाय।

आज भारतवर्ष के सामने जितनी समस्याएँ हैं उन सबका कोई-न-कोई हल इन व्रतों में मौजूद है। यदि हम अस्तेय और असंग्रह के अर्थ को ठीक सम लें और जीवन में ग्रहण कर लें तो जो झगड़े पूँजीपति और मजदूर-ज़मींदार और किसान तथा अमीर और ग़रीब के बीच में हैं, खुद-बखुद दूर हो जायँ। यदि हम ब्रह्मचर्य के महत्त्व को मान लें और उसे जीवन में उतार लें, तो बहुत प्रकार के झगड़े, जो घरों में और दूसरों के साथ होते हैं, वह तो मिट ही जायँ, साथ ही मनुष्य की सारी शक्तियों का ऐसा विकास और ऐसी वृद्धि हो कि मनुष्य, मनुष्य के दर्जे से उठकर देवत्व के दर्जे तक पहुँच जाय। हमारे लोग शरीर-श्रम को हेय दृष्टि से देखते हैं और

इसी आधार पर ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावनाएँ काम करती हैं। हमको जानना चाहिए कि काम छोटा या बड़ा नहीं होता, उसका करने वाला ही उसे छोटा या बड़ा बना सकता है। कोई भी काम हो सचाई और लोक-संग्रह की दृष्टि से किया जाय, तो वह बड़ा काम है। कोई भी काम लोभ और मोह के वश में स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया जाय तो वह महान् नहीं हो सकता; इसलिए काम का महत्त्व और लघुत्व जानने के लिए उसके पीछे जो भावना लगी होती है, जो नीयत होती है उसे जानना चाहिए। सभी धर्म वालों के साथ समभाव रखना, हमारे देश में जो आग फैली हुई है उसे शमन कर सकता है। पर हम तो धर्म के नाम पर स्वार्थ की पूजा करते हैं, दूसरों को दबाने का प्रयत्न करते हैं—और न मालूम कितने प्रकार के अनर्थ और पाप किया करते हैं। यही कारण है कि आज हिंदुओं और मुसलमानों के बीच में दंगे-फ़साद, मार-काट, लूट-पाट हो रहे हैं। कौन धर्म है जो इनकी निन्दा नहीं करता और किस धर्म में ऐसे लोग नहीं हैं जो इनमें शरीक नहीं होते। आज तो हम मनुष्यत्व के साधारण नियमों को भी भूल जाते हैं। इतना ही नहीं जानवरों के नियमों का भी पालन नहीं करते। हिंसक जन्तु भी दो ही कारणों से दूसरे पर आक्रमण करते हैं। एक या तो उसने उन पर आक्रमण किया हो या और किसी अन्य प्रकार से उसे कष्ट पहुँचाया हो; दूसरा वह उनका खाद्य पदार्थ हो। पर हम तो आज ऐसे लोगों का भी वध करने से नहीं हिचकते जिन्होंने हमारी कोई भी बुराई नहीं की है, जिनको हम जानते भी नहीं। हम उनका वध केवल इसलिए कर देते हैं कि उनके किसी सहधर्मी ने कहीं पर किसी हमारे सहधर्मी के साथ ज़ोर-ज़ुल्म किया है। प्रतिशोध की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि हम समय और देश को भूल जाते हैं और किसी समय किये गए किसी दूसरे स्थान पर किये गए और किसी दूसरे द्वारा किये गए अपराध के लिए किसी निरीह अन्यत्र रहने वाले के साथ हम अन्याय कर बैठते हैं। इसमें बच्चों और स्त्रियों का भी ख़याल नहीं करते। इस प्रकार की बातें किसी धर्म और समाज में निहित नहीं हैं। बर्बर समाज भी इन्हें जायज़ नहीं बताता। यह सब धर्मों में समभाव के अभाव का फल है।

स्वदेशी का अर्थ विदेशी और विदेशियों के साथ वैर-विरोध नहीं है। वह नकारात्मक नहीं सकारात्मक गुण है। इसका अर्थ केवल अपनी शक्ति को मर्यादित क्षेत्र में लगाने का संकल्प मात्र है। यदि हम सारे संसार को कुटुम्ब बना सकें तो इससे बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता, पर जब वह नहीं हो सकता है, तो कम से कम अपने देश और देशवासियों को तो हम कुटुम्ब बनावें और उनके साथ स्वदेशी का भाव रखें।

छूआछूत का भूत हमारे समाज में बहुत दिनों से बड़ा अनर्थ करता आ रहा

है। इसे निकाल भगाना चाहिए। सच पूछिए तो अछूतपन हिंसा का एक बड़ा भयंकर रूप मात्र है। इसने हमारे समाज को तितर-बितर कर दिया है और उसमें विश्रृंखलता और दुर्बलता ला दी है। इस सम्बन्ध में अब केवल वाद-विवाद करने का या इसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने का समय नहीं रह गया है। इसे एक बारगी दूर करना ही है। सन्तोष का विषय है कि इस ओर हिन्दुओं का ध्यान गया है और आपका यह कर्तव्य है कि अपने दिन प्रति-दिन के जीवन में इससे बचिए, दूसरों को बचाइए और जो थोड़ी भी अछूतपन की भावना हो उसे दूर कीजिए।

आप लोग राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ सुनने की आशा रखते होंगे। मुझे खेद है कि मै इस आशा को पूरा नहीं कर सकता। एक तो समय बहुत हो गया है। दूसरे मै आज की परिस्थिति को स्थायी नहीं मानता हूँ। परिस्थिति बहुत भयंकर है, पर वह अँधेरी रात की अन्तिम घड़ियों की तरह बहुत भयंकर प्रतीत होती है। वह जल्द ही मिट जानेवाली है और उसके स्थान पर स्वतन्त्रता सूर्य की प्रचण्ड ज्योतियाँ देश को चमका देने वाली हैं। केवल एक ही बात याद रखनी है। हम निर्भय बने रहें—परिस्थिति से मुकाबला करते रहें। धर्म-पथ को न छोड़ें और अन्याय किसी के साथ न करें और यदि दूसरा हमारे साथ करे तो उसको सहन न करें। भगवान पर भरोसा बनाये रखे साथ ही अपने पुरुषार्थ पर भी भरोसा न छोड़ें।

मेरे जैसे लोगों का तो समय नजदीक आता जा रहा है। हममें से जिससे जो थोड़ा-बहुत हो सका अनेकों ने किया। परतन्त्रता की कड़ी जंजीरों को काटने का जो कुछ प्रयत्न हो सका हमने किया। आप जो काम बाकी रह गया है उसे पूरा करो। पर ऐसा मत समझ लो कि विदेशियों का शासन हट जाने से ही स्वराज्य आ गया। बहुतेरी कठिनाइयाँ उसके अन्त हो जाने पर ही देखने में आयेंगी। आज का साम्प्रदायिक झगड़ा विदेशी शासन समाप्ति का आभास मात्र है। विदेशी शासन हट जाने के बाद बहुत प्रकार के रचनात्मक काम करने होंगे। उनके लिए भी उन गुणों और शीलों की आवश्यकता होगी, जिनका ज़िक्र किया गया है। हम ऐसा न समझ लें कि कर्म का युग बीत गया और भोग का युग आ गया। जो मनुष्य जाति, समाज ऐसा समझ करके भोग में लिप्त हो जाता है वह गिर जाता है। पुण्य-कर्म करते रहना ही—फल का लालच न करना ही—एक मात्र साधन है जो उन्नत रख सकता है। आप यही संकल्प लेकर जीवन में प्रवेश करो और ईश्वर कल्याण करेगा।

४

राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली[1]

प्राय: २५ वर्ष हुए होंगे जब मैं महात्मा गांधी जी के साथ गुरुकुल के समावर्तन के अवसर पर एक बार पहले आया था। तब से देश में कितना बड़ा अन्तर हो गया है यह आप भली भाँति जानते है। उस समय हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए थे और ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ हमारा अहिंसात्मक संग्राम चल रहा था। आज हम स्वतन्त्र हैं। अंगरेज़ इस देश से चले गए और अपने भाग्य को बनाने और बिगाड़ने का पूरा अधिकार हम अपने हाथों में ले चुके है। इसलिए आज हमारे सामने जितने प्रश्न आते हैं, उनका हमें स्वयं ही हल खोज निकालना है और जिस हद तक हम सफलतापूर्वक प्रश्नों का निपटारा कर सकेंगे, देश उन्नत होगा।

देश की सेवा के लिए अच्छे, सुचरित्र, बुद्धिशाली, कर्मठ और त्यागी काम करने वालों की ज़रूरत है। जो नया विधान देश के लिए बनाया गया है उस में २१ वर्ष के लोगों को मत देकर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया है। जो प्रतिनिधि चुने जायेंगे उनके हाथों में प्रान्त अथवा सारे देश के शासन की बागडोर रहेगी और उनके ही निश्चयों के अनुसार देश का सारा काम चलाया जायगा। उनके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में राजकीय कर्मचारी होंगे जिनको प्रतिनिधियों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार देश के शासन का काम चलाना होगा। इन सभी स्थानों के लिए, चाहे वह प्रतिनिधियों के हों अथवा कर्मचारियों के, योग्य ईमानदार सेवकों की आवश्यकता होगी। काम भी कितने ही प्रकार के होंगे। विद्या-प्रचार के लिए ग्रामीण पाठशाओं से लेकर, उच्च-से-उच्च कोटि की संस्थाओं के लिए शिक्षकों और ऐसे विद्वानों की जो हर प्रकार की विद्या-ज्ञान-सम्बन्धी खोज और अनुसंधान करके नित्य नये विचारों का प्रचार कर सकें; बीमारी और अस्वस्थता दूर करने के लिए ऐसे लोगों की जो केवल इन विषयों में निष्णात ही न हों पर सच्ची भावना से काम करने वाले हों, ज़रूरत पड़ेगी। ग़रीबी दूर करने के लिए, सम्पत्ति बढ़ाने के उपायों के रास्ते ढूंढ़ निकालने वाले और जो सम्पत्ति प्रकृति ने देश को दी है, उस को देश और जनता की सेवा में लगा देने की शक्ति रखने वाले लोगों की भी आवश्यकता होगी, जो देश में दरिद्रता के स्थान पर सम्पन्नता ला सकें। अर्थात्

---

[1] गुरुकुल काँगड़ी में दिया गया दीक्षान्त भाषण ५ मार्च १९५

सभी प्रकार के काम करने वालों की आवश्यकता देश को है। ऐसे लोगों को तैयार करने का काम हमारे विद्यालयों और दूसरी शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं को है।

आपका गुरुकुल एक प्राचीन ढंग पर चलने वाला नये प्रकार का विद्यालय रहा है। सारे देश में अंगरेजी का बोलबाला था और सभी विद्यालयों में अंगरेजी के माध्यम द्वारा ही शिक्षा दी जा रही थी। आपके दूरदर्शी संस्थापक, स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्चकोटि की शिक्षा का निश्चय किया और इस संस्था को आज से ५० वर्ष पूर्व स्थापित किया। इन ५० वर्षों के प्रयोग से यह प्रमाणित हो गया कि उच्चकोटि की शिक्षा भी हिन्दी द्वारा दी जा सकती है और जो विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं, वे दूसरे विद्यालयों में जहाँ अंगरेजी माध्यम है, शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों से किसी बात में कम नहीं होते। बात तो यह है कि विदेशी भाषा सीखने का भार—विशेष करके जब दूसरे विषयों के जानने और सीखने का विदेशी भाषा ही माध्यम हो, वह भार बड़ा होता है और वह मनुष्य के मस्तिष्क के विकास को अवरोधित कर देता है। आपने यही समझ कर यह नया काम ऐसे दिनों में शुरू किया था जब इस में किसी प्रकार की सहायता या प्रोत्साहन गवर्नमेण्ट से मिलने की आशा नहीं थी। जो विद्यार्थी यहाँ से शिक्षा पाकर निकलते, उनको किसी सरकारी संस्था में योग्यता रहते हुए भी कोई स्थान नहीं मिलता और अन्य प्रकार की अनेक-अनेक बाधाएँ जो किसी भी कमजोर आदमी को हतोत्साह कर सकती थीं, आये दिन सामने आती रहीं। पर किसी की परवाह न कर आप के संचालक गुरुकुल को चलाते रहे और जनता ने सहायता की। आज अब यह मान लिया गया है कि हिन्दी देश की राजकीय भाषा होगी और यह भी शिक्षा-शास्त्री मानने लग गए हैं कि शिक्षा का माध्यम हमारी अपनी भाषा होनी चाहिए न कि विदेशी भाषा। इस दिशा में शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन भी आरम्भ हो गया है और आशा की जाती है कि थोड़े ही दिनों में हमारे सभी शिक्षालयों में अपनी भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाने लगेगी और देश का सारा कारबार अपनी भाषा में ही होने लगेगा। यह देख कर आपके संचालकों को संतोष होना चाहिए ही और मैं उनको बधाई देना चाहता हूँ कि जो गुरुकुल के संस्थापक ने इतने दिन पहले सोचा था और जिस काम का नन्हा-सा पौदा लगाया था, वह आज एक वृक्ष हो गया है और अब उसमें फूल और फल शीघ्र देखने में आजायँगे।

आपकी दूसरी विशेषता प्राचीन प्रथानुकूल गुरु-शिष्य सम्बन्ध बनाये रखने की रही है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक परिवार के लोगों जैसा हो जाता है। शिष्य गुरु को पितातुल्य और गुरु शिष्य को पुत्रवत् मानने लगता है और इस तरह गुरु वात्सल्य-प्रेम तथा शिष्य, भक्ति और श्रद्धा करता है।

इसका प्रभाव अध्ययन के अलावा चरित्र पर बहुत गहरा पड़ता है। आधुनिक प्रथा में यह भावना बिल्कुल नहीं होती है और इसका नतीजा यह हुआ है कि आज हमारे विद्यालयों और शिक्षालयों में जो अध्यापक और आचार्य होते हैं उनका विद्यार्थियों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क होने ही नहीं पाता है। कालेजों का, तो मैं कह सकता हूँ कि इतना ही सम्पर्क होता है जितना किसी आदमी का एक सार्वजनिक सभा में भाषण-कर्ता से होता है। शायद यही कारण है कि अध्यापकों में एक श्रेणी लेक्चरर्स की होती है, अर्थात् जो केवल लेक्चर या भाषण दिया करते हैं। बहुतेरे ऐसे विद्यार्थी बड़े बड़े कालेजों में मिलेंगे जिनके नाम तक भी अध्यापक नहीं जानते और जिनके साथ उनकी एक बार भी, सारी अवधि में जो विद्यार्थी कालेज में बिताता है, अध्यापक से बातें नहीं हो पाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में अध्यापक के चरित्र का कोई विशेष प्रभाव विद्यार्थी पर नहीं पड़ सकता और दोनों के बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। इसलिए यदि विद्यार्थियों को अध्यापक सँभाल में नहीं रख सकते और दोनों के बीच कई बातों में दो विरोधियों जैसा सम्बन्ध पैदा हो जाता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारी पुरानी पद्धति में जब विद्यार्थी गुरु से भी अधिक विद्वान् और योग्य हो जाता था, तो भी गुरु के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव बना रहता था और विद्यार्थी मानता था कि यद्यपि वह विद्या प्राप्त करने में गुरु से बढ़ गया है तो भी आरम्भ में विद्या तो गुरु ने ही दी है और वह उस ऐहसान को कभी भूल नहीं सकता। आज एक कारखाने में मजदूर काम करता है और समझता है कि उसका सम्बन्ध कारखाने के मालिक से इतना ही है कि वह काम कर दिया करे और मजदूरी ले लिया करे, अथवा जैसे मालिक समझता है कि वह मजदूरी देता है तो मजदूर से काम करा लेने तक का हक़ है, उसी तरह विद्यार्थी और गुरु समझते हैं कि विद्यार्थी का हक़ है कि जब वह अपने स्कूल या कालेज में फ़ीस देता है तो अध्यापक जो कुछ पढ़ा सकता है, वह उसको पढ़ा देना चाहिए और अध्यापक समझता है कि जब विद्यार्थी फ़ीस देता है तो उसका काम है कि समय पर जितने घण्टे या मिनट उसको पढ़ा देना लाज़मी है उतना उसे क्लास में लेक्चर या भाषण दे देना चाहिए और उसके कर्त्तव्य की इति-श्री वहाँ ही हो जाती है। ऐसी अवस्था में विशृंखलता, असमानापन और उद्दण्डता अगर देखने में आय तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। मनुष्य का स्वभाव कुछ तो जन्म से ही बनता है पर बहुत करके जैसे वातावरण में वह पलता है, जैसे लोगों के सम्पर्क में आता है और वह सम्पर्क जितना घनिष्ठ होता है, उस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि यह कहा जाय कि इस वातावरण और सम्पर्क का प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर अधिक पड़ता है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए हमारी शिक्षा-

पद्धति की यह एक बड़ी भारी त्रुटि थी जिसको दूर करने का प्रयत्न पुरानी पद्धति को पुनर्जीवित करके किया गया।

चरित्र-गठन में धार्मिक भावना और श्रद्धा बहुत असर डालती हैं। धार्मिक भावना से अर्थ कट्टरपना नहीं है और श्रद्धा अंध-भक्ति नहीं है, पर यह ऐसी चीज है जो परोक्ष रीति से मनुष्य के जीवन पर प्रत्येक क्षण बहुत असर डालती रहती है। और चाहें मनुष्य माने या न माने उसका नैतिक चरित्र उनसे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। इस लिए यहाँ आप ने उस धार्मिक भावना का भी काफी प्रभाव रखा है। मै मानता हूँ कि हमारे सभी शिक्षालयों का उद्देश्य होना चाहिए कि स्वस्थ विद्याभ्यासी और सच्चरित्र सेवक देश को दें जो सब प्रकार के काम के लिए अपने को योग्य साबित कर सकें।

स्वास्थ्य के लिए अच्छा स्वास्थ्यकर भोजन, शुद्ध जल-वायु आवश्यक शरीर-श्रम और शुद्ध आचरण आवश्यक हैं। गुरुकुल जैसी संस्था मे यह सब उपलब्ध हो सकता है। पर ऐसे स्थान में और ऐसे शिक्षालय मे इन मे से एक का भी मिलना दुर्लभ है, जहाँ विद्यार्थी किसी न किसी तरह जहाँ कहीं उसे रहने को जगह मिल जाय और जो कुछ खाने-पीने को मिल जाय, वह खा-पी लिया करे और उसका अपने विद्यालय से और शिक्षकों के साथ केवल उतने ही समय तक सम्पर्क रहे, जितने समय में उसे अपने वर्ग में बैठना अनिवार्य हो। विद्याभ्यास से अर्थ केवल रटन्त विद्या नहीं है और न वह विद्या जो केवल परीक्षा के समय प्रश्नों के उत्तर देने ही के लिए प्राप्त की जाती है। सच्चा विद्याभ्यास तो वही कहा जा सकता है जिस में जो कुछ सीखा गया है उसके अतिरिक्त अधिक सीखने की और अधिक जानने की एक ऐसी चाह उत्पन्न हो जाय कि मनुष्य सारे जीवन भर अभ्यास-क्रम को जारी रखे और अपने ज्ञान को अन्त तक बढ़ाता हीरहे। इस प्रकार का विद्याभ्यास ऐसे विद्यालयों में कहाँ हो सकता है, जहाँ परीक्षा पास करना ही मुख्य उद्देश्य हो और जहाँ न विद्यार्थी के सामने और न शिक्षक के सामने कोई भी दूसरा आदर्श रहता हो।

चरित्र के सम्बन्ध में एक ऐसी धारणा हो गई है कि इसके लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ता है। यह स्वतः बन जाता है। बात यह है कि जो कुछ स्वतः बन सकता हैं वह स्वतः बिगड़ भी सकता है और यही होता है। इस की ओर ध्यान नहीं देने का एक प्रत्यक्ष फल यह होता है कि कुछ लोग तो अच्छे वातावरण और सच्चे सम्पर्क से, जो उनको अनायास मिल जाता है, बहुत अच्छे हो जाते हैं और कुछ लोग इन के विपरीत होने से बिगड़ भी जाते हैं। इसलिए यदि प्रयत्नपूर्वक चरित्र सुधारने के लिए हमारे शिक्षालयों में कोई प्रबन्ध किया जाय तो इस में कोई सन्देह नहीं कि इसका परिणाम बहुत अच्छा होगा। मेरा उद्देश्य यह नहीं है

कि विद्यार्थियों को सच्चरित्रता के सम्बन्ध में दिन प्रतिदिन मौखिक पाठ पढ़ाया जाय। मैं मानता हूँ कि इसका भी कुछ असर अवश्य पड़ता है। पर मैं चाहता हूँ कि केवल मौखिक शिक्षा न दे कर कुछ ऐसे काम दिये जायँ और किये जायँ जिनके द्वारा विद्यार्थियों को कुछ-न-कुछ इस सम्बन्ध में वस्तुपाठ मिला करे। इसके लिए सामुहिक व्यायाम और खेल-कूद का भी अच्छा उपयोग हो सकता है। मनोरंजन के साधन भी ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि जिनका असर चरित्र पर अच्छा पड़ सकता है। पर यही साधन बुरे हों तो उनका बुरा असर भी पड़ सकता है। आजकल मैं देखता हूँ कि जितने ऐसे स्थान हैं जहाँ विद्यार्थियों का जमघट है, वहाँ सिनेमा के ग्राहकों की बहुत बड़ी तादाद विद्यार्थियों की ही हुआ करती है। सिनेमा में यदि अच्छे खेल दिखलाये गए तो उनका अच्छा असर पड़ सकता है पर बुरे खेल का बुरा असर पड़े बिना रह नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि जो खेल शहरों और बाजारों में दिखलाये जाते हैं और जिनको अधिक करके विद्यार्थी लोग ही देखा करते हैं, उनका कोई अच्छा असर पड़ता हो। इसलिए यदि इस प्रकार के मनोरंजन आवश्यक समझे जायँ तो उनका प्रबन्ध विद्यालय को स्वयं करना चाहिए जिस में जाँचे हुए खेल ही दिखलाये जायँ और विद्यार्थियों को खुले आम टकाही सिनेमा में जाने की इजाजत न दी जाय, जिनमें या तो आधुनिक यंत्रों द्वारा किस तरह से चोरी डकैती की जाती है अथवा युवा अवस्था की प्रेम कहानी के ही खेल, जिनका कोई उच्च आदर्श नहीं, दिखलाये जाते हैं। इस पर भरोसा करना कि केवल अच्छी कहानियाँ ही दिखलायी जायँगी, ठीक नहीं है। क्योंकि जब तक ग्राहक उस प्रकार के अवांछनीय खेलों को ही पसन्द करते रहेंगे तब तक वह सामने आते ही रहेंगे और उनका रोकना कठिन ही रहेगा।

मैंने कुछ विषयान्तर कर दिया पर शायद यह एक प्रकार से आवश्यक है। सेवा की भावना सेवा करके ही पैदा की जा सकती है और इसलिए यदि देश और समाज के अच्छे सेवक तैयार करने हैं तो उनके सामने क्रियात्मक रूप से सच्ची सेवा के उदाहरण रखने चाहिएँ और विद्यार्थियों को इसका मौका देना चाहिए कि वह किसी-न-किसी सेवा-कार्य में कुछ भाग ले सके। केवल मौका ही नहीं, जहाँ तक हो सके प्रोत्साहन भी देना चाहिए। इसलिए कोई भी शिक्षालय तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें यह सभी सामान जो स्वास्थ्य, विद्याभ्यास, चरित्र-गठन, और सेवा के लिए आवश्यक है, प्रस्तुत न हों। मैं गुरुकुल जैसी संस्थाओं का इसलिए आदर करता हूँ कि इनमें यह आदर्श रखकर काम किया जाता है। जहाँ अच्छे अध्यापक और आचार्य मिल जायँगे और यह आदर्श सामने रखे जायँगे वहाँ सच्ची और उपयोगी शिक्षा मिलेगी जो देश के लिए हितकर होगी।

जिस समय इस गुरुकुल की स्थापना हुई थी विदेशी हुकूमत चल रही थी। बहुत बातों में उस हुकूमत का इन आदर्शों के साथ मेल नहीं खाता था। और इसलिए उस हुकूमत की मातहती कबूल करना ऐसी संस्थाओं के लिए न हितकर था और न सम्भव। पर आज वह स्थिति नहीं रही और कोई कारण अब नहीं रह गया कि इन आदर्शों का राष्ट्रीय विधान और नियन्त्रण तथा शासन के साथ पूरा सामञ्जस्य न हो जाय। मेरी इच्छा और प्रार्थना है कि यह सामञ्जस्य शीघ्र-से-शीघ्र स्थापित हो जाय और वे शिक्षण-संस्थाएँ जो आज तक राष्ट्रीय शिक्षण देने का विशेष प्रयत्न किया करती थीं, सरकारी शिक्षालयों के साथ घुल-मिल जायँ और जो सरकारी शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ हैं वे भी अपने कार्य-क्रम को ऐसा बना लें कि वे भी उन्हीं आदर्शों की पूर्ति कर सकें जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकार के एकीकरण में सभी संस्थाएँ दत्तचित्त होंगी और जो एक बड़ी खाई देशी और विदेशी भाषा के शिक्षा-माध्यम होने के कारण पड़ गई थी वह शीघ्र ही पट जायगी और सब संस्थाएँ एक उद्देश्य और एक लक्ष्य से अनुप्राणित होकर ऐसे जनसेवक तैयार करने में लग जायँगी जो हमारी कठिन-से-कठिन समस्याओं को हल करने में समर्थ होंगे और जो उन्नति का रास्ता हमारे लिये स्वराज्य-प्राप्ति से खुल गया है उस पर देश आगे बढ़ेगा।

तृतीय खण्ड

भारतीय संस्कृति

१

भारतीय संस्कृति[1]

कोई विदेशी जो भारत से बिलकुल अपरिचित हो एक छोर से दूसरे छोर तक सफ़र करे तो उसको इस देश में इतनी विभिन्नताएँ देखने में आयेंगी कि वह कह उठेगा कि यह एक देश नहीं बल्कि कई देशों का एक समूह है, जो एक दूसरे से बहुत बातों में और विशेष करके ऐसी बातों में जो आसानी से आँखों के सामने आती हैं, बिलकुल भिन्न है। प्राकृतिक विभिन्नताएँ भी इतनी और इतने प्रकारों की और इतनी गहरी नज़र आयेंगी जो किसी भी एक महाद्वीप के अन्दर ही नज़र आ सकती हैं। हिमालय की बर्फ़ों से ढकी हुई पहाड़ियाँ एक छोर पर मिलेंगी और जैसे-जैसे वह दक्खिन की ओर बढ़ेगा गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र से प्लावित समतलों को छोड़ कर फिर विन्ध्या, अरावली, सतपुड़ा, सह्याद्रि, नीलगिरि की श्रेणियों के बीच समतल हिस्से रंग-बिरंगे देखने में आयेंगे। पश्चिम से पूर्व तक जाने में भी उसे इस प्रकार की विभिन्नताएँ देखने को मिलेंगी। हिमालय की सर्दी के साथ-साथ जो साल में कभी भी मनुष्य को गर्म कपड़ों से और आग से छुटकारा नहीं देती समतल प्रान्तों की जलती हुई लू और कन्याकुमारी का वह सुखद मौसम, जिसमें न कभी सर्दी होती है और न गर्मी, देखने को मिलेगा। अगर आसाम की पहाड़ियों में वर्ष में तीन सौ इंच वर्षा मिलेगी तो जेसलमेर की तप्त भूमि भी मिलेगी जहाँ साल में दो-चार इंच भी वर्षा नहीं होती। कोई ऐसा अन्न नहीं जो यहाँ उत्पन्न न किया जाता हो। कोई ऐसा फल नहीं जो यहाँ पैदा नहीं किया जा सके। कोई ऐसा खनिज पदार्थ नहीं जो यहाँ के भू-गर्भ में न पाया जाता हो और न कोई ऐसा वृक्ष अथवा जानवर जो यहाँ के फैले हुए जंगलों में न मिले। यदि इस सिद्धान्त को देखना हो कि आबहवा का असर इन्सान के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, और शरीर और मस्तिष्क पर पड़ता है तो उसका जीता-जागता सबूत भारत में बसने वाले भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग देते हैं। इसी तरह मुख्य-मुख्य भाषाएँ भी कई प्रचलित हैं और बोलियों की तो कोई गिनती भी नहीं क्योंकि यहाँ एक कहावत मशहूर है :

"कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी"

भिन्न-भिन्न धर्मों के मानने वाले भी जो सारी दुनिया के सभी देशों में बसे

[1] अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन में दिया गया उद्घाटन-भाषण, १५ मार्च १९५१.

हुए हैं, यहाँ भी थोड़ी बहुत संख्या में पाये जाते हैं और जिस तरह यहाँ की बोलियों की गिनती नहीं उसी तरह यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के सम्प्रदायों की भी गिनती आसान नहीं। इन विभिन्नताओं को देखकर अगर अपरिचित आदमी घबड़ाकर कह उठे कि यह एक देश नहीं अनेक देशों का एक समूह है, यह एक जाति नहीं अनेक जातियों का समूह है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि ऊपर से देखने वाले को, जो गहराई में नहीं जाता, विभिन्नता ही देखने में आयगी। पर विचार करके देखा जाय तो इन विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है जैसे रेशमी धागा भिन्न-भिन्न प्रकार के और विभिन्न रंग की सुन्दर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसकी प्रत्येक मणि या फूल दूसरों से न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी ही सुन्दरता से लोगों को मोहता नहीं बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नहीं है बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है जो हमारे बरसों से अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जल प्रपातों का और प्रवाहों का संगमस्थल बनकर एक प्रकाण्ड और प्रगाढ़ समुद्र के रूप में भारत में व्याप्त है जिसे भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। इन अलग-अलग नदियों के उद्गम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और रहे हैं। इनकी धाराएँ भी अलग-अलग बही हैं और प्रदेश के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न और फल-फूल पैदा करती रही हैं पर सब में एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ और शीतल जल बहता रहा है जो उद्गम और संगम में एक ही हो जाता है।

आज हम इसी निर्मल, शुद्ध, शीतल और स्वस्थ अमृत की तलाश में यहाँ इकट्ठे हुए हैं और हमारी इच्छा, अभिलाषा और प्रयत्न यह है कि वह इन सभी अलग-अलग बहती हुई नदियों में अभी भी उसी तरह बहता रहे और इनको वह अमर तत्व देता रहे जो ज़माने के हज़ारों थपेड़ों को बरदाश्त करता हुआ भी आज हमारे अस्तित्व को क़ायम रखे हुए है और रखेगा, जैसा कि हमारे कवि इक़बाल कह गये हैं कि :

> "बाक़ी मगर है अब तक नामो निशाँ हमारा,
> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
> सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़माँ हमारा।"

यह एक नैतिक और आध्यात्मिक स्रोत है जो अनन्त काल से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस सारे देश में बहता रहा है और कभी-कभी मूर्त रूप होकर हमारे

सामने आता रहा है । यह हमारा सौभाग्य रहा है कि हमने ऐसे ही एक मूर्त रूप को अपने बीच चलते-फिरते, हंसते रोते भी देखा है और जिसने अमरतत्व की याद दिलाकर हमारी सूखी हड्डियों में नई मज्जा डाल हमारे मृतप्राय शरीर में नये प्राण फूंके और मुर्झाये हुये दिलों को फिर खिला दिया। वह अमरतत्व सत्य और अहिंसा का है जो केवल इसी देश के लिए नहीं, आज मानव-मात्र के जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है । हम इस देश में प्रजातन्त्र की स्थापना कर चुके हैं जिसका अर्थ है व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता जिसमें वह अपना पूर्ण विकास कर सके और साथ ही सामूहिक और सामाजिक एकता भी। व्यक्ति और समाज के बीच में विरोध का आभास होता है। व्यक्ति अपनी उन्नति और विकास चाहता है और यदि एक की उन्नति और विकास दूसरे की उन्नति और विकास में बाधक हो तो संघर्ष खड़ा होता है और यह संघर्ष तभी दूर हो सकता है जब सब के विकास के पथ अहिंसा के हों। हमारी सारी संस्कृति का मूलाधार इसी अहिंसा-तत्व पर स्थापित रहा है। जहाँ-जहाँ हमारे नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन आया है अहिंसा को ही उनमें मुख्य स्थान दिया गया है। अहिंसा का दूसरा नाम या दूसरा रूप त्याग है। और हिंसा का दूसरा रूप या दूसरा नाम स्वार्थ, जो बहुत करके भोग के रूप में हमारे सामने आता है। पर हमारी सभ्यता ने तो भोग भी त्याग से ही निकाला है और भोग भी त्याग से ही पाया है। श्रुति कहती है—'तेन त्यक्तेन भुन्जीथा'—इसी के द्वारा हम व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का विरोध, व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध, समाज और समाज के बीच का विरोध, देश और देश के बीच के विरोध को मिटाना चाहते हैं। हमारी सारी नैतिक चेतना इसी तत्व में ओत-प्रोत है। इसलिए हमने भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को स्वच्छन्दता-पूर्वक अपने-अपने रास्ते बहने दिया। भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को स्वतन्त्रतापूर्वक पनपने और पसरने दिया। भिन्न-भिन्नभाषाओं को विकसित और प्रस्फुटित होने दिया। भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को अपने में अभिन्न भाव से मिल जाने दिया। भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों को अपने में मिलाया और अपने को उनमें मिलने दिया और देश और विदेश में एकसूत्रता तलवार के जोर से नहीं बल्कि प्रेम और सौहार्द से स्थापित की। दूसरों के हाथों और पैरों पर, घर और सम्पत्ति पर जबर्दस्ती कब्जा नहीं किया; उनके हृदयों को जीता और इसी वजह से प्रभुत्व, जो चरित्र और चेतना का प्रभुत्व है, आज भी बहुत अंश में कायम है, जब हम स्वयं उस चेतना को बहुत अंशों में भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं।

हमारे सामने आज जो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है वह यह है कि हमारी यह ऐतिहासिक-नैतिक चेतना जो हमारे जन-जीवन की आज तक प्रधान संचालिका रही है वह आज की परिस्थितियों में हमारे लिए लाभदायक है या नहीं। इस बात

से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे देश में इस बारे में दो विचार-धाराएँ हैं। कुछ लोगों का विचार है कि वर्तमान उद्योग-प्रधान युग में उस नैतिक चेतना का कोई विशेष मूल्य नहीं जो मनुष्य को अहिंसा- और सेवा तथा त्याग का पाठ पढ़ाती हो। कहा जाता है कि वर्तमान प्रतियोगात्मक आर्थिक व्यवस्था में तो स्वार्थ-साधना की तीव्र भावना, दूसरों को एक तरफ ठेलकर अपने को आगे बढ़ाने की अदम्य लालसा इत्यादि गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है। अभी कुछ दिनों पूर्व इसी प्रकार के आचरण को हमारे शासक लोग अधिक पसन्द करते थे। औद्योगिक युग की इस उद्दण्ड अहं भावना के मुकाबले में अपनी ऐतिहासिक नैतिक चेतना के विनम्रता और विनय के आदर्श को हमें तोलना है और यह तय करना है कि हम अपनी उस ऐतिहासिक नैतिक चेतना को भारत के नव निर्माण की प्रधान प्रेरक शक्ति बनायेंगे अथवा वर्तमान काल के पाश्चात्य सभ्यता के उद्दण्ड अहम्मत्व को।

यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि इस उद्दण्ड अहमत्व को महत्त्व देने का ही अनिवार्य परिणाम यह है कि पाश्चात्य देशों में एक ओर तो श्रेणी-संघर्ष के सिद्धान्त का जन्म हुआ है और दूसरी ओर हृदय-हीन आर्थिक और राजनैतिक शोषण और साम्राज्यवादिता का। इस आदर्श के फलस्वरूप ही मनुष्य को कीमत मशीन के पुर्जे से अधिक नहीं रह गई है और मानव-जीवन में भी मत्स्य-न्याय का बोलबाला हो रहा है। हमें यह तय करना है कि संस्कृति और सभ्यता की प्रगति का अनिवार्य भाग यह मत्स्य-न्याय ही है अथवा वैसी प्रगति उस नैतिक चेतना के आधार पर भी हो सकती है जो भारत के मनीषियों ने यहाँ के नर-नारियों के सामने रखी थी। पाश्चात्य देशों ने पिछली शताब्दियों में विज्ञान में जो प्रगति की है और उद्योग-धन्धों में जो अभूतपूर्व विकास किया है हम अपने को और इस देश को यदि उससे अलग भी रखना चाहें तो नहीं रख सकते और अलग रखना भी न तो जरूरी है न वांछनीय। हमें देखना यह है कि उसके उद्दण्ड परिणामों से अपने को सुरक्षित रखकर हम उनका उपयोग अपनी रीति से किस तरह कर सकते हैं अर्थात् उनको अपनी संस्कृति के अनुकूल किस तरह बना सकते हैं।

इस बारे में दो बातों का हमें बराबर ध्यान रखना है। पहली बात तो यह है कि हर प्रकार की प्रकृति-जन्य और मानव-कृत विपदाओं के पड़ने पर भी हमारे लोगों की सृजनात्मक शक्ति कम नहीं हुई। हमारे देश में साम्राज्य बने और मिटे, विभिन्न सम्प्रदायों का उत्थान हुआ और पतन हुआ, हम विदेशियों से आक्रान्त और पददलित हुए, हम पर प्रकृति और मानवों ने अनेकों बार मुसीबतों के पहाड़ ढा दिए पर फिर भी हम लोग बने रहे, हमारी संस्कृति बनी रही और हमारी जीवन और सृजनात्मक शक्ति बनी रही। हम अपने दुर्दिनों में भी ऐसे मनीषियों और कर्मयोगियों

को पैदा कर सके जो संसार के इतिहास के किसी युग में अत्यन्त उच्च आसन के अधिकारी होते। अपनी दासता के दिनों में हमने गांधी जैसे कर्मठ, धर्मनिष्ठ, क्रान्तिकारी, रवीन्द्र ठाकुर जैसे मनीषी कवि को और अरविन्द तथा रमण महर्षि जैसे योगियों को पैदा किया और उन्हीं दिनों में हमने ऐसे अनेक उद्‌भट विद्वान् और वैज्ञानिक पैदा किए जिनका सिक्का संसार मानता है। जिन हालतों में पड़कर संसार की प्रसिद्ध जातियाँ मिट गईं उनमें हम न केवल जीवत ही रहे वरन् अपने आध्यात्मिक और बौद्धिक गौरव को बनाए रख सके। उसका कारण यही है कि हमारी सामूहिक चेतना ऐसे नैतिक आधार पर ठहरी हुई है जो पहाड़ों से भी मजबूत है, समुद्रों से भी गहरी है और आकाश से भी अधिक व्यापक है। जो जातियाँ मिट गईं उनकी सामूहिक चेतना जाति, प्रदेश या भाषा-विशेष के पिंजड़े का पंछी थी। हो सकता है कि वह पिंजड़ा सोने का बड़ा सुन्दर पिंजड़ा रहा हो किन्तु था तो पिंजड़ा और उसने अनजाने ही उस जाति की चेतना को इतना दुर्बल बना दिया कि पिंजड़े के बदलने या टूटने पर वह पंछी सर्वथा असहाय और निर्जीव हो गया। किन्तु हमारी सामूहिक चेतना, हमारी संस्कृति ने तो देश, जाति और भाषा को अपना बंधन कभी माना नहीं। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये सब तो उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न मार्ग और साधन अवश्य रहे हैं किन्तु उसकी सीमा कदापि नहीं। इसके विपरीत हमारी सामूहिक चेतना तो उन्हीं सूत्रों से बनी है जिनसे मानवता बनती है। यह ठीक है कि हम उसको अपने जीवन के प्रत्येक पहलू और स्वरूप में अपना नहीं पाए हैं और हमारे पतन का भी कारण बहुत कुछ यही था कि हम इसे अपने दिन-रात की जीवन-ज्योति न बना सके।

दूसरी बात जो इस बारे में विचारणीय है वह यह है कि संस्कृति अथवा सामूहिक चेतना ही हमारे देश का प्राण है। इसी नैतिक चेतना के सूत्र से हमारे नगर और ग्राम, हमारे प्रदेश और सम्प्रदाय, हमारे विभिन्न वर्ग और जातियाँ आपस में बँधी हुई हैं। जहाँ उनमें और सब तरह की विभिन्नताएँ हैं, वहाँ उन सब में यह एकता है। इसी बात को ठीक तरह से पहचान लेने से बापू ने जनसाधारण को बुद्धि-जीवियों के नेतृत्व में क्रान्ति करने के लिए, तत्पर करने के लिए इसी नैतिक चेतना का सहारा लिया था। अहिंसा, सेवा और त्याग की बातों से जनसाधारण का हृदय इसीलिए आन्दोलित हो उठा क्योंकि उन्हीं से तो वह शताब्दियों से प्रभावित और प्रेरित रहा था। जनसाधारण के हृदय में उनकी धड़कती चेतना को क्रान्ति की शक्ति बनाने में ही बापू की दूरदर्शिता थी और इसी में उनकी सफलता थी। जब साम्प्रदायिक उत्तेजना से जनसाधारण के कुछ अंश का हृदय पागल हो गया था उस समय भी बापू इसी नैतिक चेतना के सहारे उस पर बिहार और दिल्ली में

क़ाबू पा सके थे। वर्तमान गतिमान् युग में उस नैतिक चेतना में क्या कोई परिवर्तन करना चाहिए जो वह आज के लिए पूर्ण तथा उपयुक्त हो जाय। यह बात आप लोगों के लिए सोचने की है किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ उसका आधार वर्तमान गतिमान् सभ्यता के अनुकूल ही है। आज की औद्योगिक सभ्यता देश या जाति या भाषा पर ठहरी हुई किन्हीं दीवारों को सहन नहीं कर सकती क्योंकि वे उसकी प्रगति में बाधक हैं। वह तो केवल मानवता के ही आधार पर ठहरना चाहती है। पाश्चात्य देशों में जो आज संघर्ष का वातावरण है वह मेरी समझ में इसी कारण से है कि अपनी पुरानी विचार-परम्परा के अनुसार वहाँ लोग इस प्रकार की दीवारों को बनाए रखना चाहते हैं जब कि उनकी औद्योगिक सभ्यता उसके अन्दर शान्त रह कर प्रगति नहीं कर सकती। दीवारें टूटनी हैं और उनके टूटने के बाद ही इस औद्योगिक सभ्यता की धार अबाध किन्तु शान्त रूप से बह सकेगी। हमारी संस्कृति ने तो उन दीवारों को कभी महत्व दिया ही न था। अतः मैं तो यही समझता हूँ कि यदि हमें अपने समाज और देश में उन सब अन्यायों और अत्याचारों की पुनरावृत्ति नहीं करनी जिनके द्वारा आज के सारे संघर्ष उत्पन्न होते हैं तो हमें अपनी ऐतिहासिक नैतिक चेतना या संस्कृति के आधार पर ही अपनी आर्थिक व्यवस्था बनानी चाहिए अर्थात् उसके पीछे वैयक्तिक लाभ और भोग की भावना प्रधान न होकर वैयक्तिक त्याग और सामाजिक कल्याण की भावना ही प्रधान होनी चाहिए। हमारे प्रत्येक देशवासी को अपने सारे आर्थिक व्यापार उसी भावना से प्रेरित होकर करने चाहिएँ। वैयक्तिक स्वार्थों और स्वत्वों पर ज़ोर न देकर वैयक्तिक कर्तव्य और सेवा-निष्ठा पर ज़ोर देना चाहिए और हमारी प्रत्येक कार्यवाही इसी तराज़ू पर तोली जानी चाहिए। किसी भी क्रिया के पीछे जो भावना निहित होती है उसका बड़ा प्रभाव हुआ करता है और परिणाम भी, यद्यपि देखने में क्रिया का रूप एक ही क्यों न हो। एक छोटे उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। एक सम्मिलित परिवार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति इस भावना से काम करता है कि उसका कर्तव्य है कि सभी व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक वह सुख पहुँचा सके और प्रत्येक व्यक्ति पूरी शक्ति लगाकर जितना भी उपार्जन किया जा सकता है, करता है। सब का सामूहिक उपार्जन मान लीजिए कि एक रक़म होती है जिससे अधिक उपार्जन करने की शक्ति परिवार में नहीं हो। उसी परिवार का प्रत्येक व्यक्ति इस भावना से काम करता है कि उसको अपने सुख के लिए अधिक-से-अधिक उपार्जन करना चाहिए और उपार्जन करता हो तो भी सब व्यक्तियों का सामूहिक उपार्जन उतना होगा जितना कि प्रथमोक्त स्थिति में और सामूहिक सम्पत्ति दोनों स्थितियों में बराबर होगी और उसका बराबर बँटवारा कर दिया जाय तो प्रत्येक को बराबर ही सुख होगा। पर इन

दोनों स्थितियों में बहुत बड़ा अन्तर यह पड़ जायगा कि पहली स्थिति में संघर्ष का कोई भय नहीं, क्योंकि कोई केवल अपने लिए कुछ नहीं कर रहा है, और दूसरे में संघर्ष अनिवार्य है, क्योंकि प्रत्येक अपने लिए ही कर रहा है। हम समझते हैं कि हमारी संस्कृति का तकाज़ा है कि पहली स्थिति मे हम अपने को लायें और यदि संसार का संघर्ष मिटना है तो उसी भावना को सर्वमान्य बनाना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता, संघर्ष चाहे वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का हो चाहे देश-देश के बीच का हो, वर्तमान रहेगा ही। आज विज्ञान मनुष्य के हाथों में अद्भुत और अतुल शक्ति दे रहा है, उसका उपयोग एक व्यक्ति और समूह के उत्कर्ष और दूसरे व्यक्ति और समूह के गिराने में होता ही रहेगा। इसलिए हमें उस भावना को जाग्रत रखना है और उसे जाग्रत रखने के लिए कुछ ऐसे साधनों को भी हाथ में रखना होगा जो उस अहिंसात्मक त्याग-भावना को प्रोत्साहित करें और भोग-भावना को दबाए रखें। नैतिक अंकुश के बिना शक्ति मानव के लिए हितकर नहीं होती। वह नैतिक अंकुश यह चेतना या भावना ही दे सकती है। वही उस शक्ति को परिमित भी कर सकती है और उसके उपयोग को नियन्त्रित भी।

वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति के समन्वय के प्रश्न के अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि भारत की प्रत्येक प्रादेशिक भाषा की सुन्दर और आनन्दप्रद कृतियों का स्वाद भारत के अन्य प्रदेशों के लोगों को कैसे चखाया जाय। मैं समझता हूँ कि इस बारे में दो बातें विचारणीय हैं। क्या इस बारे में यह उचित नहीं होगा कि प्रत्येक भाषा की साहित्यिक संस्थाएँ उस भाषा की कृतियों को संघ-लिपि अर्थात् देवनागरी में भी छपवाने का आयोजन करें। मुझे विश्वास है कि कम-से-कम जहाँ तक उत्तर की भाषाओं का सम्बन्ध है यदि वे सब अपनी कृतियों को देवनागरी में भी छपवाने लगें तो उनका स्वाद लगभग सारे उत्तर भारत के लोग आसानी से ले सकेंगे, क्योंकि इन सब भाषाओं में इतना साम्य है कि एक भाषा का अच्छा ज्ञाता दूसरी भाषाओं की कृतियों को स्वल्प परिश्रम से समझ जायगा।

दूसरी बात है ऐसी संस्था की स्थापना की, जो इन सब भाषाओं में आदान-प्रदान का सिलसिला अनुवाद द्वारा आरम्भ करे। यदि सब भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला सांस्कृतिक संगम स्थापित हो जाता है तो इस बारे में बड़ी सहूलियत होगी। साथ ही वह संगम साहित्यिकों को प्रोत्साहन भी प्रदान कर सकेगा और अच्छे साहित्य के स्तर के निर्धारण और सृजन करने में पर्याप्त अच्छा कार्य कर सकेगा। साहित्य संस्कृति का एक व्यक्त रूप है। उसके दूसरे रूप गान, नृत्य, चित्र-कला, वास्तु-कला, मूर्ति-कला इत्यादि में देखे जाते हैं। भारत अपनी एकसूत्रता इन सब कलाओं द्वारा प्रदर्शित करता आया है। आपकी यह संस्था उसे और भी

बल और स्फूर्ति देगी।

इन सब विषयों पर आपको इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रख कर विचार करना है जो इस भवन में शाहजहाँ ने उसके निर्माण के पश्चात् खुदवा दी थी। उसने गर्व के साथ खुदवा दिया था कि :

"गर फ़िरदौस बर रूए ज़मीनस्त,
हमीनस्तो, हमीनस्तो, हमीनस्त।"

यह स्वप्न तभी सत्य होगा और पृथ्वी पर स्वर्ग तो तभी स्थापित होगा जब अहिंसा, सत्य और सेवा का आदर्श सारे भूमण्डल में मानव-जीवन का मुख्य आधार और प्रधान प्रेरक शक्ति हो गया होगा। इस हाल में वह प्रतिज्ञा आज भी प्रतिध्वनित हो रही है। आप यहाँ समवेत हुए हैं और उस प्रतिज्ञा के प्रति आप बहरे नहीं बन सकते। आप को अपना सारा कार्य उसी गूँजती हुई प्रतिध्वनि में बैठ कर करना है। मुझे भरोसा है कि पृथ्वी पर स्वर्ग का वह आदर्श आपकी सारी कार्यवाही को प्रज्वलित करता रहेगा।

२

विक्रम-कीर्ति-मन्दिर[1]

मेरा यह परम गौरव है कि भारतीय जनता के हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ और भारतीय राज-सत्ता के आदर्श प्रतीक विक्रमादित्य के कीर्ति-मन्दिर का शिलान्यास मैं आज कर रहा हूँ। भारत में जिन विभूतियों की कीर्ति-गाथा देश की कुटिया-कुटिया और साधारण-से-साधारण जन में फैली उनमें राम, कृष्ण और विक्रमादित्य की ही गणना की जा सकती है। भगवान राम और कृष्ण तो हमारे आराध्य देवता हैं और सारे देश में उन की पूजा उसी रूप मे होती है। केवल विक्रमादित्य ही ऐसे हुए जिनको हाड़-मांस का मानव जानकर भी देश भर में और गत-शताब्दियों में आदर सहित स्मरण किया गया। उनके बारे में जो कहानियाँ प्रचलित हुई वे अत्यन्त चमत्कारिक और कौतूहल पैदा करने वाली थीं और पढ़े-बे-पढ़े सबको ही वे अत्यन्त प्रिय हो गईं। बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि की कहानियाँ तो इतनी प्रचलित हुईं कि विदेशों में भी वे विभिन्न रूपों में फैल गई। यहाँ तक कि यह कहना असत्य न होगा कि देश-विदेश की भाषाओं के कहानी-साहित्य का पर्याप्त भाग विक्रमादित्य-सम्बन्धी कहानियों से मिल कर ही अधिकतर बना है। भारत में तो इन कहानियों को भी उसी चाव से जन-साधारण की झोपड़ियों और ग्राम की चौपालों पर सुना जाता है जिससे कि वहाँ राम या कृष्ण-गाथा सुनी जाती है। जन-साधारण में ही क्यों विद्वानों मे भी विक्रमादित्य दान, शौर्य, न्याय, जन-पालन, दीन-दुखियों के त्राता और देश और धर्म के रक्षक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन के मन में अहंकार लेशमात्र को न था और दूसरों के दुःख-निवारण में उनकी इतनी लगन थी कि उनके लिए यह कहा गया है :—

"तस्य चेतस्ययं परोयं मदीयं इति विकल्पो नास्ति"

अर्थात् उनके हृदय में मैं और तू का भेद न था। वे इतने बड़े दानी थे कि लाख से कम देते ही न थे और उनके यहाँ से कोई भी निराश होकर लौट सकता ही न था। उनके लिए कवि ने कहा है कि :

"निरीक्षिते सहस्रं तु नियुतं तु प्रजल्पिते, हसने लक्षमाप्नोति संतुष्टः कोटिदो नृपः"

अर्थात् उनके दृष्टिपात भर से भिक्षुक को सहस्र प्राप्त हो जाते थे, एक वचन

---

[1] विक्रम-कीर्ति-मन्दिर, उज्जैन, के शिलान्यास के अवसर पर दिया गया भाषण, ८ मई १९५१.

से दस सहस्र मुद्रा मिल जाती थीं। एक मुस्कान से लक्ष मुद्रा प्राप्त हो जाती थीं, और उनके सन्तुष्ट हो जाने पर तो करोड़ मुद्रा प्राप्त होती थीं। दीनों की रक्षा के हेतु अपने प्राण-विसर्जन करने तक को वे सर्वदा तत्पर रहते थे और इस सम्बन्ध में एक नहीं अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। वे ऐसे वीर थे जो यह सहन नहीं कर सकते थे कि उनके रहते हुए कोई भी किसी प्रकार से सताया जाय। उनके अपूर्व शौर्य और दुर्बल तथा दीनों की रक्षा की प्रतिज्ञा को ध्यान में रखकर ही कवि ने कहा है :

साहसे उद्यमे धैर्ये च तत्समो, नास्ति

अर्थात् उनके समान किसी का साहस, उद्यम और धैर्य नहीं है।

खेद की बात है कि गाथाओं और साहित्य के इस यशस्वी चरित्रनायक के सम्बन्ध में अभी तक ऐतिहासिक अपना कोई स्थिर मत नहीं बना पाए हैं। इसमें सम्भवतः विद्वानों का कोई दोष नहीं क्योंकि हमारे इस प्राचीन और विशाल देश के इतिहास के लिए, जिसका सांस्कृतिक प्रभाव, आर्थिक और वाणिज्य-सम्बन्ध और राजनैतिक सत्ता अनजानी शताब्दियों से भू-मंडल के बहुत बड़े भाग तक फैली हुई थी, जो सामग्री होनी चाहिए वह अभी एकत्रित नहीं हो सकी है। अब तक हमारा देश विदेशियों के सत्ताधीन था, और यद्यपि उन्होंने हमारे इतिहास-निर्माण के लिए स्तुत्य प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी काम के बहुत बड़े होने के कारण वह अभी पूरा नहीं हो सका। देश-विदेश में बिखरी हुई सामग्री के पता चलाने और संकलन का कार्य पूरा नहीं किया जा सका है। साथ ही कुछ विदेशी आक्रमणकारियों ने हमारे देश की अनेक ऐतिहासिक इमारतें और पुस्तकें मिटा या जला डालीं और उनके इन विध्वंसक कार्यों का यह परिणाम हुआ कि इतिहास के लिए बहुमूल्य सामग्री सर्वदा के लिए नष्ट हो गई। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि ताज्जुब इस बात का नहीं कि हमारे देश के इतिहास के निर्माण के लिए बहुत थोड़ी सामग्री मिलती है बल्कि इस बात का है कि वह भी किस तरह बच गई। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विक्रमादित्य का व्यक्तित्व और युग अभी तक इतिहास की उलझी हुई पहेली बना हुआ है।

इस पहेली के और हमारे इतिहास की अन्य पहेलियों के सुलझाने की अब विशिष्ट आवश्यकता है। अपने भाग्य और भविष्य को सँभालने के हेतु हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि हम अपनी सामूहिक चेतना के गठन को ठीक-ठीक जान लें। जब तक हमारी बागडोर विदेशियों के हाथ में थी तब तक तो हमारी जाति बहुत कुछ उनकी इच्छा की दासी थी और हमारे जीवन की दिशा और गति उन विदेशियों की इच्छा और निर्णय पर बहुत-कुछ निर्भर करती थी। उस समय

हमारी अपनी ग़लती से वह हानि नहीं हो सकती थी जैसी कि आज हो सकती है जब अपने भाग्य-निर्माण के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। इसलिए हमें अत्यन्त सावधानी बरतनी है कि अपनी नादानी से कहीं हम कोई ऐसी ग़लती न कर बैठें जो हमारे लिए अत्यन्त हानिकर और अहितकर हो। ग़लती से बचने के लिए अन्य बातों के साथ यह बात भी आवश्यक है कि हम अपने दिल और दिमाग़ को यथासम्भव ठीक-ठीक जान लें। इन को बिना समझे हम जो भी क़दम आगे की ओर उठायेंगे, और क़दम तो हमें उठाना ही है, वह अँधेरे में अंधे की छलाँग के समान होगा। इस प्रकार की छलाँग लगाने का समय आज नहीं है। इसका कारण तो प्रत्यक्ष ही है। किन्हीं कारणों से क्यों न हो हम आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पिछली कई शताब्दियाँ बहुत कुछ सीमा तक व्यर्थ गँवा चुके हैं और इन शताब्दियों की कमी को हमें अब शीघ्रातिशीघ्र पूरा करना है। ऐसा करना हमारे अस्तित्व और स्वातंत्र्य दोनों को बनाए रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः हमारे लिए यह अनिवार्य हो गया है कि जातीय अथवा राष्ट्रीय चेतना को ठीक-ठीक पहचान लें और यह समझ लें कि हमारे राष्ट्रीय दिल और दिमाग़ की बनत क्या है और उनके अन्तर में कौन सी छिपी हुई प्रेरणाएँ और शक्तियाँ काम कर रही हैं। इन को पहचान लेने पर हम सम्भवतः यह प्रयास कर सकेंगे कि वर्तमान जगत् की परिस्थितियों से उन का तालमेल कर के हम अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति कर सकें।

इस पहचान के लिए यह आवश्यक है कि हमारे इतिहास का सुस्पष्ट चित्र हमारे सामने आजाय। उस चित्र की रेखाओं को ठीक-ठीक सफ़ाई और स्पष्टता से खींचने के लिए आवश्यक है कि इस बात का संलग्नता और स्थिर मन से प्रयास किया जाय कि हमारे देश की जितनी ऐतिहासिक सामग्री हमारे देश में या अन्यत्र छिपी पड़ी है उस सब का पता चला कर उसे एकत्रित कर लिया जाय। हमारी सरकार इस बारे में कुछ क़दम उठा चुकी है और इस बात की कोशिश कर रही है कि यह सामग्री जल्द से जल्द इकट्ठी हो जाय, किन्तु यह भी आवश्यक है कि देश के विद्वज्जन और अन्य लोग भी इस बारे में सर्वदा सजग रहें और इस सामग्री के बचाने और एकत्रित करने का प्रयत्न करते रहें। मुझे संतोष है कि आप इस बारे में जागरूक हैं और इस कीर्ति-मन्दिर की स्थापना के अन्य प्रयोजनों के साथ आप का यह भी प्रयोजन है कि यहाँ वह सब ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित करके सुरक्षित रखी जाय जो खुदाई द्वारा या अन्यत्र मिले। इस स्तुत्य प्रयत्न को उस पैमाने पर जिस पर करने का आपका आरम्भिक विचार था आर्थिक कठिनाइयों के कारण आप नहीं कर पा रहे हैं, यह जान कर मुझे खेद हुआ है। सचमुच में हमारा यह बड़ा दुर्भाग्य

है कि ऐसे आवश्यक कार्यों के लिए भी हमें आज आवश्यक धन प्राप्त नहीं हो पाता। कैसी विडम्बना है कि उस प्रदेश में जो अतुल दानी विक्रमादित्य का क्रीड़ास्थल और कार्य-क्षेत्र था आज दान की धारा इतनी क्षीण हो गई है कि उससे उस दानवीर का यह स्मृति-चिह्न भी पूरी तरह सींचा न जा सकता हो। मुझे तो यह विश्वास नहीं होता कि हमारे देश के धन-सम्पन्न लोग इस बारे में उदासीन बने रहेंगे और आप की सहायता के लिए अग्रसर न होंगे।

मुझे विश्वास है कि अर्थाभाव तो एक न एक दिन दूर हो ही जायगा किन्तु जिस बात की आपको विशेष सावधानी रखनी है वह यह है कि इतिहास-निर्माण की दिशा ठीक-ठीक बनी रहे। जैसा मैं अभी कह चुका हूँ हमारे इतिहास का मुख्य ध्येय यह होना चाहिए कि वह हमें हमारे सामूहिक या राष्ट्रीय मन या चेतना को ठीक-ठीक समझाये। मेरा विचार है कि इस प्रकार के इतिहास-निर्माण में विक्रम-गाथा के यथोचित निर्वचन की पूरी-पूरी आवश्यकता होगी। क्योंकि हमारे देशवासियों के राज-धर्म और राष्ट्र-धर्म-सम्बन्धी विचारों और विश्वासों के निर्माण में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

यद्यपि मेरी इतिहास में काफ़ी दिलचस्पी है किन्तु मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं उसकी समस्याओं के समझने या सुलझाने में काफ़ी समय खर्च कर सकूँ। फिर भी विक्रम के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ पढ़ा है उससे मुझे यह लगता है कि वर्तमान सामग्री के आधार पर यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि विक्रमादित्य की गाथा केवल कल्पना पर आश्रित है और उसमें कोई तथ्य ही नहीं है। सम्भवतः इस बात से तो सब ऐतिहासिकों की सहमति है कि ईसा-पूर्व की प्रथम शती में अवन्ति पर शकों का आक्रमण हुआ और उन्होंने उज्जयिनी पर कब्ज़ा कर लिया और कुछ वर्षों के उपरान्त उनको उज्जयिनी से हार कर भाग जाना पड़ा। उनको हराने वाला कौन था इस बारे में कोई निश्चित मत नहीं हो सका है। यद्यपि जैन-साहित्य में यह कथन है कि उनको विक्रमादित्य ने हरा कर उज्जयिनी को मुक्त किया और यद्यपि कथा-सरित्सागर और बृहत्कथा-मंजरी में भी इसका ज़िक्र है कि विक्रमादित्य ने उज्जयिनी पर प्रभुता प्राप्त की और शकों को हराया, किन्तु इन कथनों के सम्बन्ध में इतिहासज्ञों को यह शंका है कि विक्रमादित्य की गाथाओं के प्रचलित हो जाने के बाद में इन पुस्तकों में ये प्रक्षिप्त कर दिये गए। इस शंका के मुख्य आधार दो बातें हैं। प्रथम तो यह है कि आजकल विक्रम संवत् नाम से ज्ञात संवत् को ईसा की नवीं शताब्दी के आरम्भ तक विक्रम संवत् नहीं कहा जाता था वरन् उसका शुरू में कृत और बाद में मालव संवत् के नाम से उल्लेख किया जाता था। कहा जाता है कि यदि विक्रम जैसे प्रतापी राजा के द्वारा वह चलाया गया होता तो आरम्भ से

ही वह विक्रम सम्वत् कहलाता। शंका का दूसरा आधार यह है कि ऐसे प्रतापी राजा का कोई शिला-लेख या अन्य अभिलेख भी नहीं मिलता और पुराणों मे भी उसका उल्लेख नहीं है और इसलिए यह कहा जाता है कि यह अत्यन्त अशोचनीय और अग्राह्य बात है कि ऐसे प्रतापी वीर का, जिसने विजातियों से धर्म और देश दोनों की ही रक्षा की, पुराणों तक में उल्लेख न मिले। किन्तु इन दोनों बातों के आधार पर यह कहना कि विक्रम के सम्बन्ध में शताब्दियों से प्रचलित अनुश्रुति और जनश्रुति और साहित्य में उसके सम्बन्धी संकेत सब मनगढ़न्त हैं, कम-से-कम मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि बहुत सी दिशाओं में आज का अन्वेषक जिन प्राचीन बातों को जान सकता है उन्हें प्राचीन काल के विचारक न जान सकते थे। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ तक विक्रम के ऐतिहासिक होने का प्रश्न है वहाँ तक उस समय के विचारकों के लिए, जब हमारे देश में ऐतिहासिक सामग्री देश की आबहवा या विदेशी आक्रमणकारियों की बर्बरता से नष्ट नहीं हुई थी, यह पूरी तरह से सम्भव था कि वे यह कह सकें कि वह सारी गाथा सच नहीं है। विक्रम को तो भगवान् समझा नहीं गया था और इस लिए यह बात भी न थी कि उनके बारे में कोई शंका की ही न जा सके। अतः यह बात सोचने की है कि उस काल के विचारकों और विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कोई सन्देह उठाया ही नहीं, और वह भी उस अवस्था में जब विक्रम-सम्बन्धी गाथाएँ देश में सर्वत्र ज्ञात थीं। जो भी हो इस बारे मे अभी खोज की आवश्यकता है।

इस बारे में एक बात की ओर मैं विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। हमारे पास इस समय जो ऐतिहासिक-सामग्री वर्तमान है उस से प्रत्यक्ष है कि मध्यपूर्व से भारत के व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र उज्जयिनी थी। अतः मैं यह समझा हूँ कि वहाँ मध्यपूर्व अर्थात् अरब उपद्वीप, मिश्र, आबीसिनिया और फ़ारस के लोग आते रहे होंगे और यह सम्भव है कि इन देशों के प्राचीन साहित्य की खोज से उज्जयिनी और उसके शासकों के सम्बन्ध में सामग्री मिले। इस साहित्य की हमारे यहाँ के विद्वानों ने किस सीमा तक खोज की है यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता; किन्तु ज्ञानेन्द्र देव सूफ़ी के अन्वेषणों के आधार पर श्रीयुत ईश्वरदत्त शास्त्री ने अपने लेख में इस्तम्बोल प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालय मकतब-ए-सुल्तानियाँ में वर्तमान सुल्तान सलीम द्वारा किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाए एक ग्रन्थ से अरुल उकोल का ज़िक्र किया है। उनका कहना है कि इस में हज़रत मुहम्मद के युग से पहले के अरब कवियों से लेकर हारुल रशीद के ज़माने के कवियों की कविताओं का संग्रह है और इसका संग्रह-कर्ता हारुल रशीद का एक दरबारी कवि अबू आमीर अब्दुल असमई कहा जाता है। उस ग्रन्थ से उन्होंने एक कविता उद्धृत की है और बताया है कि वह कविता हज़रत

मुहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व हुए अरबी कवि की है और जिसका आशय यह है-- 'कि वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य-काल में उत्पन्न हुए जो बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजा-पालक था।" यद्यपि यह उद्धरण ईसा पश्चात् पाँचवीं शती का है किन्तु इससे, यदि यह ठीक है तो, यह पता तो अवश्य चलता है कि विक्रम की गाथा उस समय उस दूर देश में प्रचलित थी और मुझे ऐसा लगता है कि यदि इस बारे में मध्यपूर्व एशिया के साहित्य में विशिष्टतया और मध्यएशिया और स्वर्ण-द्वीपों के साहित्यों, गाथाओं इत्यादि में साधारणतया और खोज की जाय तो सम्भवतः इस बारे में ठीक-ठीक निर्णय के लिए सामग्री मिल जाय। गुणाढ्य की बृहत्कथा के लिए भी और खोज करने की आवश्यकता है।

इस बारे में और कुछ मैं नहीं कहना चाहता किन्तु मैं यह ज़रूर समझता हूँ कि हम सबका और विशेषतया वर्तमान युग के राज-नायकों और प्रशासकों का यह धर्म है कि वे भारतीय राज-धर्म के इस जगमगाते सूर्य से अपने पथ आलोकित कर लें और उसके चरण-चिह्नों पर चल कर जनता की उसी लगन, उसी त्याग और उसी समझदारी से सेवा करें जैसी सेवा करके विक्रमादित्य भारत के जन-जीवन का अभिन्न अंग बन गए। आज भारत के सामने जो समस्याएँ हैं उनके सुलझाने के लिए विक्रमादित्य के जैसा ही उद्यम, उदारता और उमंग जन-नायकों और जनता-जनार्दन के मन में चाहिए।

आशा है यह कीर्ति-मन्दिर विक्रमादित्य के आदर्श का अक्षय स्रोत बनकर इस पुण्य-भूमि को पुनः सिंचित करेगा और प्रत्येक भारतीय के हृदय को उस आदर्श से भर कर विक्रम को पुनः भारतीय इतिहास का देदीप्यमान सूर्य और अटल ध्रुवतारा बना देगा और वह अवस्था पैदा करने में सहायक होगा जिसमें विक्रम के लिए कवि का यह कथन फिर सत्य हो गया होगा :

"न हो भले, मिट्टी पत्थर पर,
उसके पदचिह्नों की रेख,
हृदय हृदय के ऊर्ध्व लोक में,
अक्षय है उसका अभिलेख

....

समाश्वस्त है कुटी कुटी का,
भवन भवन का पवनाकाश,
वह आदित्य उदित फिर होगा,
प्रकटित करके पूर्व प्रकाश।"

३

सोमनाथ में महादेव-प्रतिष्ठा[1]

हमारे शास्त्रों में श्री सोमनाथ जी को बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक माना गया है, और इसलिए पुरातन काल में भारत की समृद्धि, श्रद्धा और संस्कृति का प्रतीक भगवान् सोमनाथ का यह मन्दिर था, जिसके चरण विशाल सागर धोता था, जिसका उन्नत ललाट स्वर्ग को छूता था, और जिसके विराट् कक्ष में श्रद्धालु जन भारत के विभिन्न प्रदेशों और प्रान्तों से एकत्रित होकर भगवान् शंकर के चरणों में अपरिमित श्रद्धा, भक्ति और अक्षय धन-धान्य की भेंट चढ़ाया करते थे। इस तरह यह भारत मे श्रद्धा और धन का केन्द्र तथा भंडार बना हुआ था। दूर-दूर तक तथा देश-देश में इसके अतुलनीय वैभव की ख्याति फैली हुई थी, किन्तु दुर्भाग्यवश इस पर युग के पश्चात् बार-बार विपत्ति पड़ी। यह टूटा, किन्तु जातीय श्रद्धा का बाह्य प्रतीक चाहे विध्वंस किया जा सके पर उसका स्रोत तो कभी टूट नहीं सकता। यही कारण है कि सब विपत्तियाँ पड़ने पर भी भारत के लोगों के हृदय में भगवान् सोमनाथ के इस मन्दिर के प्रति श्रद्धा बनी रही है और उनका यह स्वप्न बराबर रहा कि वे इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा पुनः कर दें। समय-समय पर वे ऐसा करते भी रहे और आज इस ऐतिहासिक मन्दिर के जीर्णोद्धार के पश्चात् इसके प्रांगण में भारत के कोने-कोने से आए हुए अनेक नर-नारियों का कलरव फिर सुनाई दे रहा है। हमें यह पुनीत अवसर देखने का सौभाग्य इसलिए प्राप्त हुआ है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु के नाभि-कमल में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा वास करते हैं, उसी प्रकार मानव के हृदय में भी सृजनात्मक शक्ति और श्रद्धा सर्वदा वास करती है और वह सब शस्त्रास्त्रों से, सब सेनाओं से और सब सम्राटों से अधिक शक्तिशाली होती है। सोमनाथ का यह मन्दिर आज फिर अपना मस्तक ऊँचा करके संसार के सामने यह घोषित कर रहा है कि जिसे जनता प्यार करती है, जिसके लिए जनता के हृदय में अक्षय श्रद्धा और स्नेह है, उसे संसार में कोई भी मिटा नहीं सकता। आज इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा पुनः हो रही है और जब तक इसका आधार जनता के हृदय में बना रहेगा तब तक यह मन्दिर अमर रहेगा।

इस पुनीत पावन और ऐतिहासिक अवसर पर हम सबके लिए उचित है

---

[1] सोमनाथ-मंदिर म महादेव-प्रतिष्ठा संस्कार के अवसर पर दिया गया भाषण।

कि हम धर्म के इस महान् तत्त्व को समझ लें कि भगवान् की, सत्य की झाँकी पाने के लिए कोई एक ही मार्ग मनुष्य के लिए अनिवार्य नहीं है परन्तु यदि श्रद्धा-पूर्वक और लगन से मनुष्य जन-जीवन की सेवा करने के लिए तत्पर होता है, और यदि वह अपने जीवन को संसार में स्नेह और सौन्दर्य का साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्सर्ग करता है तो फिर चाहे वह किसी ढंग से भगवान् की पूजा क्यों न करे, उसको भगवान् और सत्य की झाँकी अवश्य मिल जाती है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य को पहचाना था और मनुष्य जाति के सामने इसको रखा था। वैदिक काल में ही इस बात की साग्रह घोषणा कर दी गई थी कि वह एक है, किन्तु मनीषी लोग उसका वर्णन बहुत प्रकार से करते है। इसी प्रकार महाभारत में भी यह कहा गया था कि जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र ही मे मिल जाती हैं उसी प्रकार विभिन्न धर्म भी भगवान् के पास ही मनुष्य को पहुँचा देते है। दुर्भाग्यवश धर्म और जीवन के इस तथ्य को विभिन्न युगों और विभिन्न जातियों में ठीक-ठीक नहीं अपनाया गया और इसी कारण धर्म के नाम पर संसार के विभिन्न देशों और विभिन्न जातियों में अत्यन्त विनाशकारी और वीभत्स संघर्ष और युद्ध हुए। धार्मिक असहिष्णुता से विद्वेष और अनाचार बढ़ने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं होता है—यही इतिहास की शिक्षा है और इसको हम सब को गाँठ बाँध रखना चाहिए। हमारे देश मे इस बात की आज विशेष आवश्यकता है कि हम में से प्रत्येक यह समझ ले कि हमारे देश में जितने सम्प्रदाय और समुदाय हैं उन सब के प्रति हमें समता और आदर का व्यवहार करना है। क्योंकि ऐसा करने में ही हमारी सारी जाति और देश का तथा प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण निहित है। इसी विश्वास और श्रद्धा के कारण हमारे भारतीय संघ ने धर्मनिरपेक्षता की नीति अपनाई है, और इस बात का आश्वासन दिया है कि इस देश में बसने वाले प्रत्येक सम्प्रदाय के लोगों को राज्य की ओर से एक समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी। इसी नीति के अनुसार मेरी श्रद्धा और भक्ति सभी धर्मों के प्रति रहती है। यद्यपि मैं विश्वास और अपनी दिन-चर्या में सनातनी हिन्दू हूँ, और साधारणतः उसी धर्म की रीति से भगवान् की उपासना और अर्चना करता हूँ तथापि मैं यह भी मानता हूँ कि अन्य धर्मावलम्बी अपनी रीति से भगवान् की पूजा कर उसको पा सकते हैं, और इसीलिए सभी धर्मों के पवित्र स्थानों के प्रति मैं केवल आदर का ही भाव नहीं रखता हूँ वरन् अवसर पाकर उस आदर को व्यक्त करने में भी कभी नहीं हिचकता। मौका मिलने पर मै दरगाह और मस्जिद, गिर्जाघर और गुरुद्वारे में भी उसी श्रद्धा के साथ जाता हूँ जिस से कि मै अपने मन्दिरों में जाता हूँ। आज का यह उत्सव भी इसी नीति की सत्यता को पुष्ट करता है। आज यह स्पष्ट है कि धार्मिक असहिष्णुता की नीति असफल सिद्ध हुई है और होती रहेगी। साथ ही हमें यह भी

समझ लेना चाहिए कि इतिहास की टूटी हुई लड़ी को जोड़ने का अर्थ यह नहीं है और न हो सकता है कि हम इस बात का प्रयास करें कि वे सब मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाएँ यहाँ फिर स्थापित हो जायें जो इतिहास के युग मे यहाँ वर्तमान थीं। मानव के लिए यह तो सम्भव है कि वह पृथ्वीतल पर पिछले स्थान पर लौट सके किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह विगत घड़ी के पास लौट जाय। कालक्षेत्र मे तो उसको निरन्तर आगे ही बढ़ना होता है। हाँ वह पीछे दृष्टि डालकर आगे के लिए प्रकाश और ज्योति पा सकता है। अतः आज के उत्सव का यह न अर्थ हो सकता है कि हम विलुप्त राजनैतिक और सामाजिक युग की पुनः स्थापना करना चाहते है, और न इसका यह अर्थ है कि हम उस मानसिक और शारीरिक घाव को फिर खोलना चाहते है जो शताब्दियों के व्यतीत होने के कारण बहुत कुछ भर या ढक चुका है। हमारा ध्येय पुरातन इतिहास के अध्याय को दूर करना नहीं है वरन् केवल यही है कि हम आज अपनी उस आस्था, उस विश्वास और उस श्रद्धा के प्रति अपनी लगन फिर से प्रकट करें जिस आस्था या विश्वास पर अनन्त काल से हमारा धर्म स्थापित रहा है और हम फिर दुहाई कर दें कि धार्मिक जीवन का सर्वोपरि सत्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को वह पूर्ण स्वतन्त्रता और वे सुविधाएं प्राप्त हों जिनमे कि वह अपनी अनुभूति और अपनी नैसर्गिक बुद्धि के अनुसार अपने जीवन का चरम उत्कर्ष प्राप्त कर सके। और, वह सत्य है, पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता।

इस पुनीत अवसर पर हम सबके लिए यह उचित है कि हम आज इस बात का व्रत ले कि जिस प्रकार हम ने आज अपनी ऐतिहासिक श्रद्धा के इस प्रतीक में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा की है उसी प्रकार हम अपने देश के जन-साधारण के उस समृद्धि-मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा पूरी लगन से करेंगे जिस समृद्धि-मन्दिर का एक चिह्न सोमनाथ का पुरातन मन्दिर था। उस ऐतिहासिक काल मे हमारा देश सभ्य जगत् का औद्योगिक केन्द्र था। यहाँ के बने हुए माल से लदे हुए कारवाँ दूर-दूर देशों को जाते थे, और संसार का चाँदी सोना इस देश में अत्यधिक मात्रा मे खिचा चला आता था। हमारा निर्यात उस युग में बहुत था और आयात बहुत कम। इसीलिए भारत उस युग मे स्वर्ण और चाँदी का भण्डार बना हुआ था। आज जिस प्रकार समृद्ध देशों के बैंकों के तहखानों मे संसार का स्वर्ण पर्याप्त मात्रा में पड़ा रहता है उसी प्रकार शताब्दियों पूर्व हमारे देश में संसार के स्वर्ण का अधिक भाग हमारे देवस्थानों में होता था। मैं समझता हूँ कि भगवान् सोमनाथ के मन्दिर का पुनर्निर्माण उसी दिन पूरा होगा जिस दिन न केवल इस प्रस्तर की बुनियाद पर यह भव्य-भवन खड़ा हो गया होगा वरन् भारत की उस समृद्धि का भी भवन तैयार हो गया होगा जिसका प्रतीक वह

पुरातन सोमनाथ का मन्दिर था। साथ ही सोमनाथ के मन्दिर का पुनर्निर्माण तब तक भी मेरी समझ में पूरा नहीं होगा जब तक कि इस देश की संस्कृति का स्तर इतना ऊँचा न हो जाय कि यदि कोई वर्तमान अलबेरूनी हमारी वर्तमान स्थिति को देखे तो हमारी संस्कृति के बारे में आज की दुनिया के मुकाबले में वही भाव प्रकट करे जो लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व उस समय के भारत के सम्बन्ध में अलबेरूनी ने प्रकट किये थे।

नव-निर्माण का यह यज्ञ स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल ने आरम्भ किया था। भारत की विच्छिन्न एकता को पुनः एकसूत्र और अखण्ड करने में उनका निर्णायक हाथ था। और उनके हृदय में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई थी कि नव-निर्माण के प्रतीक स्वरूप भारत की पुरातन श्रद्धा का यह प्रतीक फिर से निर्मित किया जाय। वह स्वप्न भगवान् की कृपा से आज एक सीमा तक पूरा हो गया है। किन्तु वह पूर्ण रूपेण उसी समय पूरा हो सकेगा जब भारत के जन-जीवन का वैसा ही सुन्दर मन्दिर बन गया होगा जैसा यह भगवान् का मन्दिर है।